भारतीय राजनीतिः
जैन पुराण साहित्य संदर्भ में

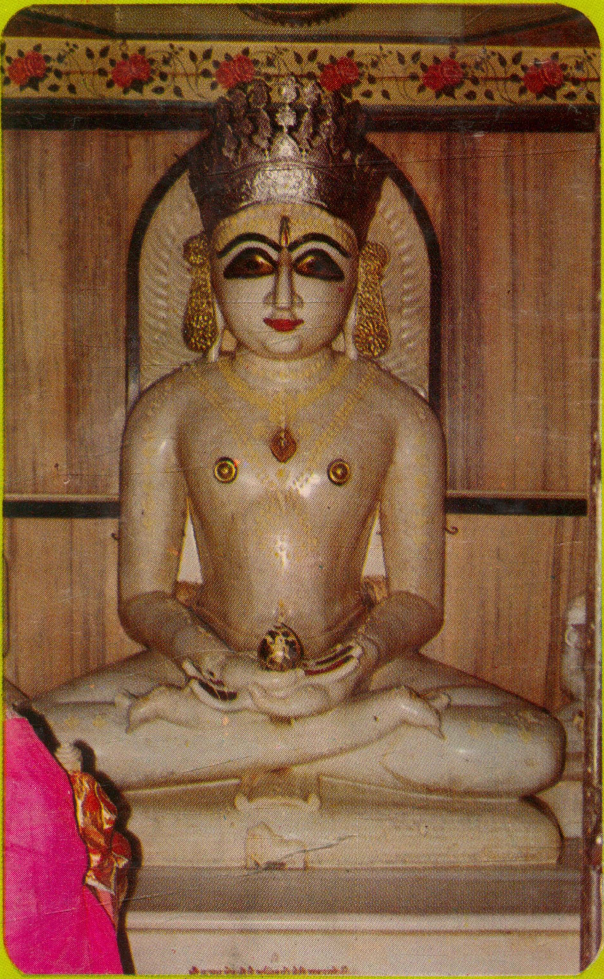

साध्वी डा० मधु स्मिताश्री

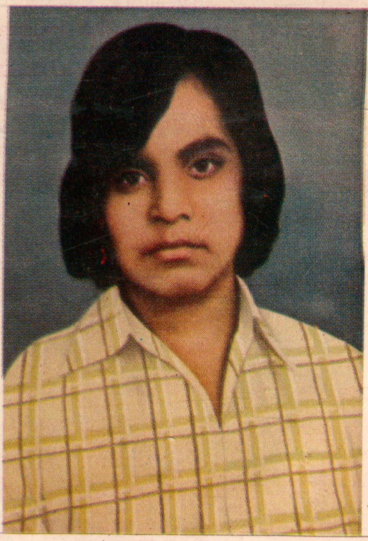

अशोक कुमार नाहटा

बीकानेर के सुप्रसिद्ध एवं धनाढ्य नाहटा परिवार में श्री अशोक कुमार नाहटा का जन्म २० सितम्बर, १९५७ को हुआ था। इनके पिता श्री हरखचन्द जी तथा माता श्रीमती रूक्खमणि देवी नाहटा की आप द्वितीय संतान थे। आप बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि तथा विशाल हृदय के थे। १६ वर्ष की अल्पायु से ही आपने पारम्परिक व्यापार की बागडोर संभाल ली। अपने पिता श्री के कुशल निर्देशन में तथा व्यवसायिक चातुर्य एवं कुशाग्र बुद्धि से आपने बहुत थोड़े समय में व्यापार-साम्राज्य का आशातीत विस्तार किया। आज तक लोग इनकी दानवीरता, विशाल हृदय, जिज्ञासु प्रवृत्ति, व्यावसायिक चातुर्य को नहीं भूल पाये हैं। लेकिन काल के क्रूर पंजों ने इस उदीयमान व्यक्तित्व को २३ वर्ष की अल्पायु में ही २२ दिसम्बर १९८० को हमसे इन्हें छीन लिया। अपने कार्यों तथा उच्च आदर्शों के कारण आज भी इनका चरित्र एक अनुकरणीय उदाहरण है।

भारतीय राजनीति :
जैन पुराण साहित्य संदर्भ में

साध्वी डा. मधुस्मिता श्री
एम॰ ए॰, पी॰ एच॰ डी॰

श्रीमती दुर्गादेवी नाहटा चैरिटी ट्रस्ट
अशोक कुमार नाहटा चैरिटेबल ट्रस्ट
२१, आनन्द लोक
नई दिल्ली
भारत

प्रथम संस्करण मई, १९९१

□ प्रेरिका

स्व० प्रवर्तिनी जैन कोकिला समतामूर्ति श्री विचक्षण श्री जी म० सा० की सुशिष्या शासन ज्योति शतावधानी प.पू. **मनोहर श्री जी** म. सा. एवं विदुषी वर्या श्री . **मुक्ति प्रभा श्री जी म. सा.**

□ अर्थ सौजन्य

श्री हरखचन्द जी नाहटा
२१ आनन्द लोक
नई दिल्ली-११००४९
दूरभाष : ६४४-२८३४, ६४६-१०७५

□ मूल्य सदुपयोग

□ प्राप्ति स्थान

श्रीमती दुर्गादेवी नाहटा चैरिटी ट्रस्ट
श्री अशोक कुमार नाहटा चैरिटेबल ट्रस्ट
२१, आनन्द लोक, नई दिल्ली-४९

नाहटा एण्ड कम्पनी
५३७, कटरा नील, चांदनी चौक, दिल्ली-११०००६

□ मुद्रक

संजय प्रिंटर्स, ११३२, छत्ता मदन गोपाल चांदनी चौक, दिल्ली-६

प्रकाशकीय

जीवन की उपादेयता एवं सार्थकता का परिमापक है व्यक्ति का आत्म-कल्याण के साथ विश्व-कल्याण का प्रयत्न। इतिहास में वंदनीय वे ही कालजयी पुरुष होते हैं, जिन्होंने समष्टि को व्यष्टि में समाहित कर लिया। किसी भी व्यक्ति की सृजनात्मकता एवं कृतित्व का आंकलन समाज के प्रति उसके उत्तरदायित्व परिपालन एवं मानव-मात्र के सर्वांगीण विकास हेतु रचनात्मक सहयोग से किया जाता है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में उसके संत समुदाय के प्रति अगाध निष्ठा का मूलभूत कारण है हमारी वैचारिक एवं आध्यात्मिक विरासत, जिसमें संयम, शील, एवं गुणों को अर्थ एवं शक्ति से ज्यादा महत्वपूर्ण माना गया है। जैन संत समुदाय ने सदियों से भारतीय साहित्य, कला, धर्म, राजनीति, विचार, आध्यात्म, ज्योतिष एवं भाषा के क्षेत्र में अनुपम योगदान देकर भारतीय संस्कृति को समृद्ध एवं प्राणवान बनाया है। उसी विरासत की शृंखला को आगे बढ़ाते हुए परम विदुषी आर्यारत्न साध्वी डा० मधुस्मिता श्री जी ने गहन अध्ययन एवं श्रम-साध्य विश्लेषन के बाद प्रस्तुत ग्रन्थ "भारतीय राजनीति शास्त्र: जैन पुराणों के सन्दर्भ में" का प्रणयन किया है। भारतीय राजनीति शास्त्र की विशद् व्याख्या एवं जैन पुराणों में निरुपित विभिन्न सिद्धांतों की विवेचना कर विदुषी म० सा० ने राजनीति के शिक्षार्थियों एवं विचारकों को अध्ययन क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

यह मेरे लिए सौभाग्य का विषय है कि इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ का प्रकाशन कराने का मुझे स्वर्णिम अवसर प्राप्त हुआ है। परम पूज्य म०

सा० के दिल्ली चातुर्मास के समय मुझे श्री सुनील कुमार श्रीमाल के माध्यम से इस शोध ग्रन्थ के विषय में जानकारी प्राप्त हुई। जिसके उपरान्त मैंने ग्रन्थ को प्रकाशित करवाने के मन्तव्य को म० सा० के सम्मुख निवेदन किया। उनकी स्वीकृति प्राप्ति के बाद श्री महेन्द्र कुमार नाहटा ने इसकी मुद्रण सम्बन्धित व्यवस्था संभालने में योगदान दिया है। मैं सर्वश्री सुनील कुमार श्रीमाल एवं महेन्द्र कुमार नाहटा को उनके योगदान के लिए धन्यवाद देता हूं। आशा करता हूं कि आप सभी सुधीजनों को यह ग्रन्थ उपयोगी प्रतीत होगा, जिससे मेरा यत्किंचित् अंशदान भी सार्थक हो सकेगा।

नई दिल्ली

हरख चन्द नाहटा

दो शब्द

साध्वी मधुस्मिता श्री जी का शोध निबन्ध (थीसीस) "भारतीय राजनीति जैन पुराण साहित्य संदर्भ में" का प्रकाशन एक सुभग बौद्धिक प्रसंग है। इसीलिए कि जैन साहित्य के मूल आधार का राजनीति शास्त्रीय अभिगम से अभ्यास पूर्ण विश्लेषण मधुस्मिता श्री जी ने किया है। समाज में राजनीति का चलना और दण्ड शक्ति का विनियोग अनिवार्य होता है, तब भी जैन राजनीतिज्ञों ने शान्ति की प्रतिष्ठा की थी। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति व सम्बन्धों में अहिंसा और शान्ति के मूल्यों की सराहना—यह जैन संस्कृति का भारत और विश्व को अनन्य प्रदान है। यह महत्वपूर्ण शोध मधुस्मिता जी ने पद्धति सर रूप से सूक्ष्म विवरण करके सिद्ध किया है।

मुझे ज्यादा खुशी इस बात की है कि साध्वी श्री की इतनी बौद्धिक परिश्रम से लिखी हुई थीसीस के लिए पी० एच० डी० की जो उपाधि मिलने वाली थी, उसका उनको कोई भौतिक उपयोग या व्यवसायी लाभ मिलने वाला नहीं था ना ही ऐसी कुछ अपेक्षा भी थी, फिर भी केवल निजानन्द के लिए और जैन संस्कृति परम्परा का मूल राजनैतिक परिणाम को समझने के लिए उन्होंने यह थीसीस तैयार की।

इस थीसीस के दोनों विद्वान परीक्षकों ने अपनी मूल्यांकन रिपोर्ट में मधुस्मिता श्री जी की यह अभ्यासिका कृति की उच्च गुणवत्ता की प्रशंसा की है, और ऐसे अच्छे शोध के लिए पी० एच० डी० की उपाधि सम्पन्न करने के लिये सराहना की थी।

श्रद्धा है, विश्वास है, कि इस थीसीस को शैक्षणिक विश्व में आविकार मिलेगा। साध्वी श्री मधुस्मिता श्री जी को मैं धन्यवाद देता हूं और ऐसी उत्कृष्ट प्रणाली के लिए वंदन करता हूं।

२८-९-८९

प्रवीण न. शेठ
(मार्ग दर्शक)
प्राध्यापक एवं अध्यक्ष,
राजनीति विज्ञान
गुजरात यूनिवर्सिटी
अहमदाबाद

आशीर्वचन

"साध्नोति स्व-पर कार्यमिति साधु"—"स्वान्तसुखाय—परजन हिताय" इसी अर्थ को लेकर साधु शब्द की व्युत्पत्ति हुई है। ज्ञानोपासना स्वोत्थान और परोपकार के लिए आवश्यक है। इसी लक्ष्य को केन्द्रित करते हुए साध्वी मधुस्मिता श्री जी ने स्वयं के लिए एवं जनमानस को आत्मोन्मुख बनाने के लिए "भारतीय राजनीतिः जैन पुराण साहित्य संदर्भ" विषय पर PH. D. की है।

जैन दर्शन का प्रमुख आधार कर्म सिद्धान्त पर अवलम्बित है। 'यः कर्त्ता स एवं भोक्ता' इस उक्ति के अनुसार यद्यपि जो जैसा करता है वह वैसा ही फल पाता है। फिर भी समाज की अराजकता, भ्रष्टाचार, अन्याय से सुरक्षा का विधान राजनीति करती है। नैतिकता ही सदाचार की नींव है। अतीत के अनुभव का प्रकाश ही भविष्य का मार्गदर्शन करती है। जैन पुराणों में प्राचीन दण्डनीति का विधान तो है ही, साथ ही साथ समय-समय पर भिन्न-भिन्न नीतियों का भी उल्लेख किया गया है। साध्वी जी ने इसी तथ्य को सत्य करने का प्रयास किया है।

विषय का तलस्पर्शी एवं सूक्ष्म ज्ञानार्जन के लिए लक्ष्य का निर्धारण आवश्यक है। इसी हेतु से साध्वी जी ने पी० एच० डी० करने का निर्णय लिया। अध्ययनशील रहने में कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है, इसमें भी श्रमण जीवन तो संघर्ष से परिपूर्ण होता है। इसके बावजूद भी अथक परिश्रम करके इन्होंने साहित्य सेवा की है।

मधुस्मिता श्री जी नैतिकता का पाठ पढ़ाकर, साहित्य सृजन के माध्यम से समाज का एवं स्वयं अपना उत्थान करें, यही मेरी हार्दिक शुभकामना तथा आन्तरिक आशीर्वाद है।

१३-११-८९
कार्तिक पूर्णिमा
देहली

गुरु विचक्षण पद हेतु
मनोहर श्री मुक्ति प्रभा श्री

प्रस्ताविक

अपना विषय "भारतीय राजनीति जैनपुराण साहित्य संदर्भ में" "प्रकाशित करने से पूर्व में यह बताना चाहती हूं कि भारत में राजनीति शास्त्र के अध्ययन की क्या परम्परा थी।

भारत में राजनीति शास्त्र के अध्ययन की परम्परा बहुत प्राचीन है। (वर्तमान उपलब्ध राजनीति प्रधान ग्रन्थों में यद्यपि कौटिल्य का अर्थ-शास्त्र सबसे प्राचीन माना जाता है।) ~~वर्तमान उपलब्ध~~ राजनैतिक वाङ्मय में कौटिल्य का अर्थशास्त्र, मनुस्मृति शुक्रनीतिसार, याज्ञवल्क्य स्मृति तथा नीतिवाक्यामृत आदि प्रमुख ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों की टीकाओं में अनेक प्राचीन महान राजनीतिज्ञों के मतों का उल्लेख प्राप्त होता है, जिनकी रचनाएँ आज उपलब्ध नहीं हैं। महाभारत तथा रामायण ग्रन्थों में भी राजनीति के बहुमूल्य तत्त्व विद्यमान हैं। इन ग्रन्थों पर विद्वानों ने काफी शोध और खोज की है। उक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त बहुत-सा प्राचीन साहित्य है, जिसमें राजनीति के अनेक बहुमूल्य तत्व समाविष्ट हैं। इस कोटि में जैन पुराण साहित्य को रखा जा सकता है।

पिछले कुछ वर्षों से विद्वानों का ध्यान जैन वाङ्मय की ओर आकृष्ट हुआ है। परिणाम स्वरूप अध्ययन, अनुसंधान के प्रयत्न भी आरम्भ हुए हैं। सोमदेव के नीतिवाक्यामृत को छोड़कर अन्य ग्रन्थों के राजनैतिक अंशों पर अभी तक शायद कोई खास शोधकार्य नहीं हुआ है, थोड़ा-बहुत जो कुछ भी हुआ है, वह अपर्याप्त है। इस [illegible]र राजनीति की बहुत-सी यत्र-तत्र विकीर्ण सामग्री अभ[illegible] विद्वानों की दृष्टि से ओझल ही है।

आज तक देश-विदेश में शायद ऐसा एक भी प्रयत्न नहीं हुआ। जिससे जैन पुराण-साहित्य के संदर्भ में तत्कालीन राजनीतिक का सम्पूर्ण रेखाचित्र अंकित किया जा सके। इस बात को दृष्टिगत रखते हुए ही मैंने "भारतीय राजनीति : जैन पुराण साहित्य संदर्भ में" शोध-विषय चुना है।

प्रमुख जैन पुराणों में निहित राजनीतिक सामग्री पर अनुसंधान करके उसे एक सूत्र में निबद्ध कर प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में 'भारतीय राजनीतिः जैन पुराण साहित्य संदर्भ में' का दिग्दर्शन किया है।

जैन पुराणों की रचना संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं में हुई है। वैदिक परम्परा के अष्टादश पुराणों की तरह यहां पुराणों की संख्या सीमित नहीं है। जैन पुराणों को सर्वत्र पुराण नाम से अभिहित भी नहीं किया गया है। कतिपय रचनाकारों ने उन्हें चरित्र की संज्ञा दी है। परन्तु वास्तव में वह इस कोटि के अन्तर्गत ही आते हैं। जैन पुराणों की सूची ग्रन्थ में प्रेषित की गई है।

मैंने अपने अनुसंधान की उपलब्धियों को प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के अष्ट अध्यायों में निम्न रीति से संयोजित किया है :—

प्रथम अध्याय में भारत में प्राचीन राजनीति शास्त्र की अध्ययन परम्परा, द्वितीय अध्याय में जैन पुराण-साहित्य का परिचय, तृतीय अध्याय में जैन पुराण साहित्य में राजनीति, चतुर्थ अध्याय में राज्य एवं राजा, पंचम अध्याय में शासन-व्यवस्था, षष्ठ अध्याय में न्याय-व्यवस्था, सप्तम अध्याय में नगरादि व्यवस्था, अष्टम अध्याय में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का वर्णन किया गया है।

उपसंहार में अत्यन्त संक्षेप में शोध-प्रबन्ध के निष्कर्ष प्रस्तुत किये गये हैं।

अन्त में संदर्भ-ग्रंथ सूचि (तालिका) में उन प्रमुख ग्रन्थों की तालिका दी गयी है जिनका उपयोग शोध-प्रबन्ध की तैयारी में विशेष रूप से किया गया है।

कृतज्ञता ज्ञापन :

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की आप प्रेरिका गुरुवर्या शासन ज्योति, शतावधानी पूज्य मनोहर श्री जी महाराज साहब एवं विदुषीवर्या पूज्य मुक्ति प्रभा श्री जी महाराज साहब हैं, जो इस ग्रन्थ की समाप्ति तक प्रेरक बनी रहीं। पूज्या प्रधान पद विभूषिता अविचल श्री जी म० सा० के आशीर्वाद एवं गुरु भगिनियों के सहयोग तथा पूज्या सुरेखा श्री जी महाराज साहब के विशेष सहयोग एवं सद् प्रयत्न के फलस्वरूप यह कार्य पूर्णता की ओर अग्रसर हुआ है।

इस शोध-प्रबन्ध के निर्देशक प्रारम्भ में गुजरात यूनिवर्सिटी के राजनीति-शास्त्र विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष स्व० डा० कीर्तिदेव देसाई थे, जो दुर्भाग्यवश इस ग्रन्थ की समाप्ति से पूर्व ही इस लोक से विदा हो गये। जिनका निर्देशन हमेशा ही बना रहा। वर्तमान में इस शोध-प्रबन्ध के (उसी विभाग के) निर्देशक डा० प्रवीण भाई सेठ हैं, जिन्होंने कार्य की बहुलता होने पर भी मुझे अपने निर्देशन में शोध-कार्य करने की अनुमति प्रदान की। जिनके सहज-स्नेह एवं निर्देशन से प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का कार्य सम्पूर्ण हुआ है।

विषय-निर्धारण एवं शोध-प्रबन्ध की निर्माण-दशा का श्रेय पंडित-वर्य, आगमवेत्ता, तत्वान्वेषी, उदारमना, सहजस्वभावी दलसुखभाई मालवणिया को है, जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर मुझे समय-समय पर निर्देशन एवं प्रेरणा प्रदान की है। इनके व्यक्तित्व के लिए जितना भी कहा जायेगा वह अकथनीय ही होगा। ग्रन्थ की समाप्ति तक डा० रमणीक भाई साहब का भी औदार्यपूर्ण एवं सराहनीय सहयोग रहा है।

इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने के लिये अर्थ सौजन्य में श्री हरख चन्द जी नाहटा एवं उनके पुत्र भी साधुवाद के पात्र हैं, जिन्होंने अपनी चंचल लक्ष्मी का सदुपयोग ज्ञान की आराधना में लगाया गया है।

१४-११-८६
दिल्ली

मधुस्मिता श्री

सांकेतिक शब्द-सूची (सूक्ष्मरूप)

आ. चूर्णी	आवश्यकचूर्णी
आ. नियुक्ति	आवश्यक नियुक्ति
आदि पु.	आदि पुराण
कामन्दक	कामन्दक नीतिसार
कौ. अर्थ.	कौटिल्य अर्थशास्त्र
टीका.	टीकाकार
त्रि. श. पु. च.	त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र
नि. चू.	निशीथचूर्णी
नि. भाष्य	निशीथभाष्य
पदम पु.	पदमपुराण
पाण्डव पु.	पाण्डव पुराण
पु.	पुराण
महा पु.	महापुराण
महा. शान्ति.	महाभारत शान्तिपर्व
मनु.	मनुस्मृति
याज्ञवल्क्य	याज्ञवल्क्यस्मृति
शुक्र	शुक्रनीतिसार
सम.क.	समराइच्चकहा
हरिवंश पु.	हरिवंश पुराण

अनुक्रमणिका

"भारतीय राजनीति : जैन पुराण साहित्य संदर्भ में"

विषय	पृष्ठ संख्या
प्रास्ताविक	क ग
कृतज्ञता-ज्ञापन	ग घ
संकेत सूची	ङ
अध्याय १—भारत में राजनीति-शास्त्र की प्राचीन परम्परा	१—१६
अध्याय २—जैन पुराण साहित्य का परिचय	१७—३८
अध्याय ३—जैन पुराण साहित्य में राजनीति	३६—५०
अध्याय ४—राज्य एवं राजा	५१
१. (क) राज्य का स्वरूप	५१

(I) राज्य की उत्पत्ति ५१ (II) राज्य के प्रकार ५३ (III) राज्य के उद्देश्य ५४ (IV) राज्य से कार्य। ५५

(ख) राज्य के सिद्धान्त

(I) राज्य के सप्तांग सिद्धान्त ५५ (II) राज्य के चतुष्टय सिद्धान्त ५६ (III) राज्य के षड् सिद्धान्त। ६०

२. राजा — ७७—१०७

(I) राजा का महत्व ६२ (II) राजा की उत्पत्ति ६७ (III) राज्याभिषेक ८२ (IV) युवराज और उसका उत्तराधिकारी ८८ (V) राज्य के उत्तराधिकारी का प्रश्न ८६ (VI) राजा के प्रधान पुरुष ६१ (VII) राजा की उपाधियां ६४ (VIII) राजा के प्रकार ६५ (IX) राजा के गुण ६७ (X) राजा प्रजा का सम्बन्ध १०० (XI) राजा के कर्त्तव्य १०१।

अध्याय ५ शासन व्यवस्था — १०८—२०७

(क) मन्त्रिपरिषद — १०६

(I) मन्त्रिपरिषद की रचना १११ (II) मन्त्रियों की नियुक्ति ११३ (III) मन्त्रियों की योग्यता ११५ IV मन्त्रि-परिषद के सदस्यों की संख्या ११७ (V) मन्त्रि परिषद के कार्य ११८।

(ख) कोष १२२
(I) राजकर व्यवस्था (कानूनी टैक्स) १२३ (II) करों के प्रकार १२६ (III) राजकोष को समृद्ध बनाने के उपाय १२६
(ग) सेना या बल १२७
(क) चतुरंगिणी सेवा के अंग १२८
(I) पदाति सेना १२८ (II) अश्व सेना १२६ (III) हस्ति सेना १३१ (IV) रथ सेना १३४
(ख) युद्ध १३४
(I) युद्ध के कारण १३४ (II) युद्ध-नीति १३८ (III) अस्त्र-शस्त्र १४७।
अध्याय ६—(क) न्याय व्यवस्था १४६—१६८
I न्याय स्वरूप एवं प्रकार १४६ (II) न्यायाधीश १५१ (III) शपथ १५१
(ख) अपराध एवं दण्ड : १५२
(I) चोरों के प्रकार १५६ (II) चोरी के प्रकार (सेंध लगाना) १६० (III) चोरों के आख्यान १६१ (IV) जेल-खाने (चारग) १६३ (V) मुकद्दमें १६६।
अध्याय ७—नगरादि-व्यवस्था १६६—१८०
(क) नगर-विन्यास १६६
(I) दुर्ग १७१ (II) राजधानी १७३ (III) सड़क निर्माण १७५
(ख) सुरक्षा-व्यवस्था १७५
(I) परिखा १७६ (II) कोट १७७ (III) प्राकार १७७ (IV) अट्टालक १७६ (V) गोपुर १७६ प्रतोली १८०
अध्याय ८—अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध १८१—२०५
(क) शान्तिकाल में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध :
(I) दूत १८७ (II) दूत के गुण १८७ (III) दूतों के भेद १८८ (IV) दूतों के कार्य १८८ (V) गुप्तचर १६२ (VI) सामन्त शासकों के साथ सम्बन्ध १६३
(ख) युद्ध काल में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध १६४
(I) मण्डल सिद्धान्त १६६ (II) परराष्ट्रनीति १६६
(III) परराष्ट्र नीति को क्रियान्वित करने के उपाय २०३
०० उपसंहार एवं निष्कर्ष २०६—२१३
०० संदर्भ ग्रन्थ सूची २१४—२३२

प्रथम अध्याय

भारत में राजनीति-शास्त्र की प्राचीन परम्परा

प्राचीन भारत में राजनीति-शास्त्र को अनेक नामों से सम्बोधित किया जाता था। राजधर्म, राज्यशास्त्र, दण्डनीति, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि। 'राजधर्म' अथवा 'राज्यशास्त्र' नाम इसलिए पड़ा क्योंकि उस समय भारत मे बहुधा नृपतन्त्र या राजतन्त्र प्रचलित था। महाभारत के शान्तिपर्व मे इस विषय का विवेचन राजधर्म के नाम से ही किया गया है। "दण्डनीति" यह नाम देने का तात्पर्य यह है कि भारतीय राजनीतिज्ञ राजसत्ता का अन्तिम आधार दण्ड या बल को ही स्वीकार करते थे। उनकी मान्यता थी कि यदि राजसत्ता अपराधियों को दण्ड नहीं देगी, तो समाज मे मत्स्यन्याय या अराजकता शुरू हो जायेगी। दण्ड के भय से ही लोग न्याय पथ का अनुकरण करते हैं। जब सब सोते हैं तब "दण्ड" ही रक्षण करता है। संक्षेपतः दण्ड ही धर्म है, ऐसी भारतीय राज्यशास्त्रियों की धारणा थी।[१] आरम्भ मे जो ग्रन्थ राजनीतिक सिद्धान्तों अथवा शासन कार्यों से सम्बन्ध रखते थे, वे दण्डनीति कहलाते थे।[२] दण्डनीति का अर्थ है शासन सम्बन्धी सिद्धान्त। प्राचीन शब्द

---

१. दण्ड: शस्ति प्रजा: सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्ड: सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधा:॥
मनुस्मृति : टीकाकार, हरगोविन्द शास्त्री, वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, १९६५, ७/१८।

२. "काशीप्रसाद जायसवाल" हिन्दू राज्य-तन्त्र पहला खण्ड, प्रयाग : इण्डियन प्रेस लिमिटेड, १९८४, पृ० ५।

"अर्थ" और "दण्ड" का स्थान आगे चलकर "नीति" शब्द ने लिया। नीति-शास्त्र का अर्थ है उचित और अनुचित कार्यों को बताना। नीति-शास्त्र में मानव समाज के विभिन्न वर्गों के कर्त्तव्यों का वर्णन निहित होता है। भर्तृहरि का प्रसिद्ध नीति-शतक विशाल अर्थ मे नीति की चर्चा करता है। कामंदक व शुक्र के शासन-शास्त्र सम्बन्धी ग्रंथ "नीति-शास्त्र" नाम से ही प्रसिद्ध है। वैयक्तिक जीवन में जितना योग्य मार्ग से जाना महत्त्वशील है, उससे भी अधिक वह राजकीय क्षेत्र में है, कारण कि यदि थोड़ी-सी भी भूल हो जाये तो समाज बहुत कष्ट में पड़ जाता है। नीतिशास्त्र का ध्येय जिस प्रकार समाज का सर्वांगीण विकास करना है वैसा ही ध्येय शासन-शास्त्र का था। इसलिए नीति-शास्त्र शब्द राज-नीति-शास्त्र के अर्थ में उपयोग आने लगा।[1]

अब प्रश्न यह उठता है कि राजनीति का नाम अर्थ-शास्त्र किस प्रकार पड़ा? अर्थशास्त्र का अर्थ है, "जनपद सम्बन्धी शास्त्र"। "अर्थ" का अभिप्राय मनुष्यों की बस्ती, अर्थात् वह प्रदेश जिसमें मनुष्य बसते हों। अर्थ-शास्त्र उस शास्त्र को कहते हैं जिसमें राज्य की प्राप्ति और उसके पालन के उपायों का वर्णन हो।[2] अर्थ-शास्त्र में उद्धृत है कि कौटिल्य अपने इस ग्रन्थ को प्रथम दण्डनीति नाम देना चाहते थे, किन्तु अन्त में उनका मत बदल गया और "अर्थनाम" निश्चित कर दिया।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राज-शास्त्र इतिहास में सर्वप्रथम "राजधर्म" के नाम से जाना जाता था, इसके पश्चात् दण्डनीति यह नाम लोकप्रिय हुआ। आगे चलकर अर्थ-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र, नीति-शास्त्र यह नाम अधिक लोकप्रिय हुए।

---

१. सर्वोपजीवकं लोकस्थितिकृन्नीतिशास्त्रकम्।
धर्मार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षपतं यत ॥
शुक्रनीति सार : भाषान्तरकर्ता इच्छाराम सूर्यराम देसाई, बम्बई : गुजराती प्रिंटिंग प्रेस : १९६७, १/५।

२. **कौटिलीयं अर्थशास्त्रम्** : अनु० रामतेज शास्त्री, काशी : पण्डित पुस्तकालय, अ० १५/१।

भारतीय राजनीति-शास्त्र के मूल स्रोत वैदिक ग्रन्थों में मिलते हैं।[१] सर्वप्रथम वैदिक और ब्राह्मण काल में राजनीति-शास्त्र के अध्ययन प्रणाली का वर्णन आता है। इस काल में राजनीति-शास्त्र के स्वतंत्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुए थे; फिर भी वैदिक ग्रन्थों के अन्तर्गत राज्य-शास्त्र का विवेचन किया गया है। जिसके आधार पर हम यह जान सकते हैं कि प्राचीन समय में राजनीति-शास्त्र के अध्ययन की परम्परा कैसी थी। इसके पश्चात् धर्मसूत्रों में वर्णित राजनीति का विवेचन आता है। वैसे इन धर्मसूत्रों का दृष्टिकोण धार्मिक है, न कि राजनैतिक। फिर भी इन धर्मसूत्रों के आधार पर प्राचीन राजनीति का थोड़ा अंश प्राप्त होता है। इसके पश्चात् महाभारत में और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राजनीति का विशद विवेचन किया गया है। महाभारत के "शान्तिपर्व' के अध्यायों में राजा के कर्त्तव्यों एवं शासन व्यवस्था का विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है। कौटिल्य अर्थ-शास्त्र तो राज्यशास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है ही। इसके अलावा "कामन्दकीय-नीतिसार", "शुक्रनीति" में भी शासन व्यवस्था का वर्णन किया गया है। पुराणों में भी राज्य-शास्त्र की चर्चा की गई है।

उपर्युक्त ग्रन्थों के आधार पर ही हम प्राचीन राजनीति का संक्षेप में चित्र अंकित करेंगे।

जब हम प्राचीन राजनीति पर दृष्टिपात करते हैं, तो सर्वप्रथम हमारा लक्ष्य वैदिक ब्राह्मण काल की ओर जाता है; क्योंकि प्राचीन राज-शास्त्र का उद्भव वैदिक काल से हुआ है। इस काल के राजनीति के ग्रन्थ न होने पर भी वैदिक वाङ्मय में इतस्तः स्फुट वचन मिलते हैं; जिनसे तत्कालीन राजनीति और व्यवस्था का थोड़ा परिचय मिल जाता हैं। वैदिक काल में राजा पूर्णतया स्वेच्छाचारी नहीं रहते थे; बल्कि जातीय सभा व समिति द्वारा राजा के अधिकारों पर नियन्त्रण रहता था। राष्ट्रीय जीवन के सभी कार्य सार्वजनिक समूहों और संस्थाओं आदि के द्वारा हुआ करते थे।[२] के० पी० जायसवाल का कहना है कि "राजत्व मनुष्य निर्मित

---

१. Saletore : Ancient Indian Political Thought and Institution, Asia Publishing House, Page 96.

२. हिन्दू राजतन्त्र, पृ० १२।

संस्था थी।[1] निर्वाचन द्वारा राजा नियुक्त किया जाता था। राजपद को स्वीकार करने में उसे कई प्रतिज्ञाएँ करनी पड़ती थीं, जिसके अनुसार प्रजा का हित और उसकी समृद्धि करना राजा का सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य होता था। राजा नियमों से परे नहीं था। नियम उस पर भी लागू होते थे। इस काल में राजाओं का निर्वाचन अथवा पुनर्निर्वाचन होता था।[2] ऋग्वेद में राजा के चरित्र एवं गुण क्या थे, पता नहीं चलता है। अर्थात् ऋग्वेद में राज्य सम्बन्धी उल्लेख बहुत कम है। अथर्ववेद में उनकी संख्या पर्याप्त है, परन्तु उनका सम्बन्ध केवल राजा से ही है। यजुर्वेद की संहिताओं और ब्राह्मणों में राज्याभिषेक या उसके बाद किये जाने वाले यज्ञों का वर्णन कई स्थानों पर मिलता है। राज्यारोहण के समय किया जाने वाला यज्ञ "राजसूय" कहलाता था। संहिताओं और ब्राह्मणों में वर्णित तत्वों से पता चलता है कि राजपद की प्रतिष्ठा कैसी थी, राज-कर्मचारी कौन थे, प्रजा से कौन-कौन से "कर" वसूल किये जाते थे। इसके अलावा विभिन्न जातियों के परस्पर सम्बन्ध, अधिकार, स्थिति का विवेचन है, जिससे राजतन्त्र पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

वैदिक और ब्राह्मण काल के पश्चात्, अब हम धर्म-सूत्रों में निहित राजनीति का वर्णन करेंगे। धर्मसूत्रों के अन्तर्गत राजनीति में पूर्व की अपेक्षा कुछ परिवर्तन हो गया था। धर्मसूत्रों में राजत्व सम्बन्धी अधिकारों का तर्कपूर्ण विवेचन है। इसके अलावा अधिकार एवं उत्तरदायित्व के सिद्धान्तों का अच्छा सामंजस्य है। एक स्थान पर राजा के अधिकार का सूत्रपात इस आधार पर किया गया है कि यह व्यक्तिगत एवं समाजगत मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। ऐसा लिखने में हमारा उद्देश्य गौतम ऋषि की उक्ति की ओर है कि संसार के धर्म को राजा

---

१. यू० एन० घोषाल : **हिन्दुओं के राजनैतिक सिद्धान्त**, जबलपुर : स्टुडेण्ट्स स्टोर्स, १९५० पृ० १।

२. वही।

✓ के० वी० जायसवाल, अनु० चम्पकलालभाई मेहता, **हिन्दू राज्य व्यवस्था** : अहमदाबाद, हीरालाल त्रिभुनदास पारेख, गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी, १९३३, पृ० २०५।

एवं ब्राह्मण दोनों ही स्वीकार करते हैं।[१] इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि राजा एवं ब्राह्मण के ऊपर ही प्रजा के अस्तित्व का भार निर्भर था और वे नैतिक एवं सामाजिक व्यवस्था के आधारभूत स्तम्भ थे। धर्मसूत्रों में राजा के कर्तव्यों का भी विशेष उल्लेख है। धर्म का यह लक्षण है कि महा-स्तोत्र एवं वेदों में जो नियम दिये गये हैं उनके अनुसार आचरण करना चाहिए। उन नियमों के अनुसार राजा अपनी शक्ति का न्याय-विरुद्ध दुरुपयोग करने से पाप का भागी होता है, साथ ही धर्मसूत्रों में न्यायपूर्ण शासन के कर्तव्यों से च्युत हो जाने पर राजा के लिए प्रायश्चित करने का भी विधान है। धर्मसूत्रों में यह भी कहा गया है कि प्रजा के पुण्य एवं पाप का भागीदार राजा होता है। गौतम ऋषि ने तो राजा को पुण्य का ही भागीदार वताया है। विष्णु ऋषि ने यह कहा है कि प्रजा के पुण्य एवं पाप दोनों के ही षष्ठ भाग का उत्तरदायित्व राजा पर है। बौद्धायन धर्मसूत्रों में लिखा है कि "षडभागभृतो राजा रक्षेत्प्रजाम्।[२] अर्थात् षड्भाग लेकर राजा प्रजा की रक्षा करता था। इस वाक्य से यह स्पष्ट होता है कि राजा एक प्रकार से कर्मचारी था, जो प्रजा की रक्षा वेतन लेकर करता था। अथवा यह कहना चाहिए कि राजा प्रजा से कर बसूल करता था तो उसका कर्त्तव्य था कि वह प्रजा की रक्षा करे।

ई० पू० सातवीं शती में राजनीति का विकास हुआ, क्योंकि इस समय तक देश में अनेक छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये थे। शासक अपने मंत्रियों व गुरुओं से राज्य-सम्बन्धी विषय पर चर्चा किया करते थे। महाभारत के शान्तिपर्व में जब धर्मराज युधिष्ठिर अपने गुरु भीष्म से अनेक विवाद्य प्रश्न पूछते हैं; तब भीष्म स्वयं अपना मत देने के बजाय प्राचीन काल में उन विषयों पर राजाओं और ऋषियों के बीच जो चर्चा हुई थी उसका सारांश देते थे। ई० पू० सातवीं व छठी शती में राजनीति पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये ; लेकिन वे सब नष्ट हो गये। इन ग्रन्थों का काल प्रसिद्ध यूनानी तत्ववेत्ता अरस्तू से पूर्व था।

---

१. हिन्दुओं के राजनैतिक सिद्धान्त पृ० २०.

२. बौद्धायनधर्मसूत्रम् : महर्षि बोधायन प्रणीत, गोविन्द स्वामी ; बनारस, चौखम्बा संस्कृत सीरिज १९३४ अ० १० श्लोक १.

राज्य के निर्माताओं और ग्रन्थों का परिचय हमें केवल महाभारत एवं कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र से होता है। यद्यपि इन दोनो ग्रन्थों का विषय स्वरूप, दृष्टिकोण और परम्पराओं में भिन्नता है फिर भी उल्लिखित पूर्व सूरियों के नामों में अन्तर नहीं है।

महाभारत के शन्तिपर्व के ५९ में अध्याय में वर्णित है कि राज्य की उत्पत्ति किस प्रकार हुई ? महाभारत शान्तिपर्व के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ में सत्ययुग था। उस समय न राज्य था, न राजा, न दण्ड, और न ही दण्ड के पात्र कोई व्यक्ति। एक-मात्र धर्म का अनुसरण करते हुये ही परस्पर अपना रक्षण करते थे।[1] लेकिन यह सत्ययुग बहुत समय तक नहीं रहा। बाद में किसी प्रकार अधःपतन आरम्भ हो गया। लोग सदाचार से भ्रष्ट होकर स्वार्थ, लोभ और वासना के वश में हो गये और जिस स्वर्गीय व्यवस्था में वे रहते थे वह नरक बन गयी।[2] "मत्स्य-न्याय" (जिसकी लाठी उसकी भैंस) का बोलबाला हुआ। बलवान् निर्बलों को खाने लगे। देवता भी यह सब देखकर चिन्तित हुए और उन्होंने इस दुर्दशा का अंत करने का निश्चय किया। लोग ब्रह्मा की शरण में पहुंचे। ब्रह्माजी इस निर्णय पर पहुंचे कि मनुष्य जाति की तब ही रक्षा हो सकेगी, जब एक आचारशास्त्र बनाया जाये और उसे राजा के द्वारा कार्यान्वित किया जाय। अतः उन्होंने एक लाख अध्याय वाले नीति-शास्त्र की रचना की।[3] इसमें धर्म,

---

१. **महाभारत शान्तिपर्व : कृष्णद्वैपायनवेदव्यास प्रणीत, भाषान्तरकर्त्ता: शास्त्री** गिरिजाशंकर **मयाशंकर, अहमदाबाद: भिक्षु अखंडानंद १९९६, अध्याय ५९,** **नियतस्त्वं नरणाघ्न शृणु सर्वमशेषतः। यथा राज्यं समुत्पन्नमादौ कृतयुगे-ऽभवत् ॥ ३ ॥**

न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाःसर्वारक्षन्ति स्भ परस्परम् ॥ ४ ॥

२. पाल्यमानास्तथान्योऽन्यं नराधर्मेण भारत।
खेदं परमुवाजग्मुस्ततस्तान्मोह आविशत ॥ 5 ॥

प्रतिपत्तिविमोहाच्च धर्मस्तेषामनीनशत्।
कामो नामापरस्तत्र प्रत्यपयत वे प्रभो ॥ १८ ॥ **महाभारत शान्तिपर्व**

३ **महाभारत शान्तिपर्व पृ० १२५, श्लोक २९.**

अर्थ और काम त्रिवर्ग और चतुर्थ मोक्ष और उसके त्रिवर्ग सत्व, रज और तम का विवेचन किया है। इसके साथ ही उन्होंने दण्डज त्रिवर्ग, स्थान काल और सहाय के अतिरिक्त अन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता और दण्डनीति, साम दाम, दण्ड और भेद सम्बन्धित विषयों का वर्णन किया है। यह ग्रन्थ अन्यन्त विशाल था। इन्द्र ने इसको पांच हजार अध्ययन प्रमाण किया तथा इसका बाहुदंतक ऐसा नाम दिया। बृहस्पति ने इसकी तीन हजार अध्ययन प्रमाण रचना की तथा यह बृहस्पत्य नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसके पश्चात् शुक्राचार्य ने इस शास्त्र को एक हजार अध्ययन प्रमाण में संक्षिप्त कर दिया।[1] इस प्रकार ब्रह्मा ने नीति-शास्त्र की रचना की और अपने मानस—पुत्र विरजस की सृष्टि करके उसे राजा बनाया। जनता ने भी उसके अनुशासन में रहना स्वीकार किया। इस विवरण से स्पष्ट है कि राज्य की उत्पत्ति दैवी मानी जाती थी।

यूरोप में भी विशेषत: मध्ययुग में ईसाई मत के प्रभाव से शासन-संस्था को दैवी समझा जाता था।[2] राजा परमेश्वर का साक्षात् प्रतिनिधि है व उसे राज्य करने का अधिकार ईश्वर प्रदत्त था। इस्लाम धर्म का मत भी इससे मिलता जुलता है; उनके अनुसार बादशाह खुदा का प्रतिबिम्ब माना जाता था।

महाभारत के वर्णन से राज्य-शास्त्र एवं दण्डनीति की प्राचीनता प्रकट होती है। महाभारत में अधिकांश रूप से राजसत्तात्मक राज्यों के विषय में ही विवेचन किया गया है। महाभारत में विशालाक्ष, इन्द्र, बृहष्पति, शुक्र, भारद्वाज, मनु आदि राजनीति के ग्रन्थकारों के नाम उल्लेखनीय हैं। प्राचीन भारतीय ग्रंथकारों की यह प्रथा थी कि वह बहुधा स्वयं अज्ञात रहकर अपने ग्रन्थों पर देवताओं एवं पौराणिक ऋषियों के नाम दे दिया करते थे। मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, पराशरस्मृति तथा शुक्रनीति आदि नाम इनके उदाहरण हैं।

---

१. वही पृ० १२६, श्लोक ८५.

२. J.S. Bains :—**Studies in Political Science**, Asia Publishing House, Nagendra Singh : The Concept of force in the Political Theory of Ancient India, Page 181.

उपर्युक्त कथन की पुष्टि कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र से भी होती है। इसके अतिरिक्त अर्थ-शास्त्र में पिशुन, कौणपदंत, वातव्याधि, घोटमुख, कात्यायन और चारायण आदि राज्य-शास्त्र प्रणेताओं का भी उल्लेख है।

दुर्भाग्यवश उपर्युक्त ग्रन्थों में से एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। ऐसा मालूम होता है कि कुछ ग्रन्थों की सामग्री महाभारत शान्तिपर्व के राजधर्म अध्याय में समाविष्ट हो गई और कुछ कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में। फिर भी कुछ नवीं शती तक उपलब्ध थे, क्योंकि सुरेशवराचार्यकृत "याज्ञवल्क्यस्मृति" की बालक्रीड़ा टीका में विशालाक्ष का एक श्लोक उद्धृत किया गया है।[1]

महाभारत राज्य-शास्त्र का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। उसमें शन्तिपर्व के राजधर्म पर्व के अध्यायों में राजा के कर्तव्यों अधिकारों और शासन-व्यवस्था सम्बन्धी अनेक विषयों का विशद वर्णन निहित है। अध्याय ६३, ६४ में राज्य-शास्त्र की महत्ता का वर्णन है। अध्याय ५६, ६६, ६७ में राज्य तथा राजतंत्र की उत्पत्ति पर महत्व स्थापित किया है। अध्याय ५५, ५६, ७०, ७१, ७६, ६४, ६६. १२० में राजा और मंत्रियों के कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्त्व का वर्णन है। अध्याय ६९ में राज्य के सात अंगों का वर्णन किया गया है तथा यह भी वताया गया है कि इन अंगों का यत्नपूर्वक रक्षण करना चाहिए। अध्याय ७१, ७६, ८८, ९७, १२०, १३० इन छः अध्यायों में कर व्यवस्था का वर्णन किया गया है। स्वराष्ट्र शासन-व्यवस्था का संक्षेप में वर्णन अध्याय ८० में निहित है। परराष्ट्रनीति, संधि, विग्रह का वर्णन अध्याय २० ६६, ९८, १००, १०३, ११० और ११३ में है। महाभारत में राजनीति सम्वन्धी अध्ययन पूर्ववर्ती ग्रंथकारों से अधिक विस्तृत एवं स्पष्ट है। इसमें पूर्व ग्रन्थकारों के कुछ सिद्धान्त का समावेश भी है। महाभारत के शान्तिपर्व के राजधर्म अध्याय के अतिरिक्त और भी अध्यायों में राजतंत्र पर विचार किया गया है। सभापर्व के ५ वें अध्याय मे आदर्श राजा का वर्णन निहित है। आदिपर्व के १४वें अध्याय में विशेष परिस्थितियों में राज्य-कारभार में कूटनीति का भी समर्थन किया गया है।

---

१. अल्तेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति : प्रयोग, भारतीभंडार, १९५९, पृ० ६.

महाभारत के पश्चात् कौटिल्य के प्रसिद्ध ग्रंथ अर्थ-शास्त्र का हम वर्णन करेंगे। इसका रचना-काल ई० पू० तीसरी शती लगभग है।[1] यह राज्य-शास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें राजनीति का विस्तार से वर्णन किया गया है। यह ग्रंथ धर्म-शास्त्र की विचारधारा से प्रभावित नहीं है। इसका विषय मूल रूप में राज्य-शास्त्र है। "कौटिल्य अर्थ-शास्त्र" के प्रथम विभाग में नृपतंत्र से सम्वन्धित विषयों पर विचार किया गया है। दूसरे विभाग मे अधिकारियों के कर्त्तव्य-क्षेत्र एवं अधिकारों का वर्णन किया गया है। इससे अगले दो विभागों में दीवानी तथा फौजदारी कानून, दाय भाग तथा रस्म-रिवाजों का विवेचन है। पांचवें विभाग में राजा के अनुचरों के कर्त्तव्यों का वर्णन तथा छठे विभाग में राज्य की सप्त प्रकृतियों के स्वरूप और कर्त्तव्यों का विधान है। शेष ९ विभागों में पर-राष्ट्रनीति :— विभिन्न राजाओं के सम्वन्ध, उनको पराभूत करने के उपाय, संधि-विग्रह के उपयुक्त अवसर, युद्ध के तरीके, शत्रुओं में फूट डालने के उपाय आदि विषयों का विशद वर्णन निहित है।

अर्थशास्त्र का उद्देश्य शासन-कार्य में राजा को मार्ग-निर्देशन करना था। नृपतंत्र या शासन-व्यवस्था के मूल सिद्धान्तों का दार्शनिक विवेचन उसमें नहीं मिलता है। शासन की वास्तविक समस्याओं को सुलझाना ही इसका उद्देश्य था और युद्ध तथा शान्तिकाल में शासन-तंत्र का क्या स्वरूप और कार्य होने चाहिए, इसका वर्णन अर्थ-शास्त्र में हुआ है वह बाद के ग्रन्थों में शुक्र-नीति के अतिरिक्त और कहीं नहीं मिलता।

अर्थशास्त्र राजनीति का सिद्धान्त नहीं, किन्तु शासन की राज-नीतिक, अर्थनीति व प्रशासन का शास्त्रीय एवं व्यवहारमूलक विवरण और परिप्रेक्ष्य दोनों ही हैं। अर्थ-शास्त्र के वही लक्षण उसकी शक्ति एवं मर्यादा बन गई है।

अभी हमने महाभारत एवं अर्थ-शास्त्र के अन्तर्गत राजनैतिक

---

१. **हिन्दू राजतंत्र**, पृ० ३२७.

तत्त्वों का निरूपण किया है। अब हम रामायण में निहित राजनैतिक तत्त्वों पर विचारणा करेंगे।

रामायण-कालीन भारत में एकछत्र साम्राज्य का अभाव था। सम्पूर्ण भारत अलग-अलग खण्डों में विभक्त था। उन समय प्रत्येक राज्य की अपनी सीमा निश्चित होती थी। प्रत्येक सीमा में अलग-अलग राजा राज्य करते थे। रामायण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि "तत्कालीन शासन-व्यवस्था का स्वरूप मर्यादित राजतंत्र था"[1] राजव्यवस्था का विकास पूर्व वैदिक जन-व्यवस्था के आधार पर हुआ था। जन-पद युग में राजतंत्र तथा उसकी उत्पत्ति से सम्बन्धित दार्शनिक कल्पनाओं का उद्‌भव हुआ, राजतंत्र की उत्पत्ति के शक्ति-सिद्धान्त का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में भी मिलता है। जिसमें कि प्राकृतिक वातावरण से नियमविहीन समाज तथा उसके अन्तर्गत शक्तिहीन के ऊपर शक्तिशाली के अत्याचारों का उल्लेख किया गया है, जैसा कि महाभारत में भी निहित है। "रामायण में अराजक जनपद तथा उससे उत्पन्न होने वाले दुर्गुणों तथा अत्याचारों का विशद विवेचन किया गया है।"[2] अराजक समाज में "मत्स्य-न्याय" प्रचलित हो जाता है, जिसका तात्पर्य है, बड़ी मछली द्वारा छोटी मछली को निगल जाना। ऐसी विकट परिस्थिति में राजा की आवश्यकता पर बल दिया गया। रामायण में वर्णित कुछ आदर्श राजाओं के नाम इस प्रकार हैं:—जनक महान, विदेह राजा, केकय राजा, अश्वपति, काशी के ब्रह्मदत्तवंशीय राजा और राम आदि। राजतंत्रीय शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत जनता की सुरक्षा का भार राजा पर निर्भर था। प्रजा अपनी रक्षा के लिए चिन्तित रहती। आदर्श राजतंत्र प्रणाली में अयोध्या के राजा राम तथा केकय, अश्वपति के नाम उल्लेखनीय हैं जिन्होंने अपने कर्त्तव्यों के प्रति महान नैतिक उत्तरदायित्व अदा किया है। उदाहरणार्थ राम ने अपनी प्रजा को प्रसन्न रखने के लिए निर्दोष पत्नी सीता को वनवासित किया था।

---

१. शान्तिकुमार नानूराम व्यास: **रामायणकालीन समाज**, दिल्ली सत्साहित्य प्रकाशन, १९५८, पृ० २५४.

२. **रामायण वाल्मीकि**, सम्पा० एन० रामरत्नार्येण, मद्रास आर० नारायणस्वाम्यार्यं, १९५८, अयोध्या काण्ड, ६७/३१.

रामायण के अन्तर्गत राजपद कुल परम्परागत होता था। रामायण के सैंतालीसवें सर्ग में इक्ष्वाकु वंश का वर्णन किया गया है, इससे ज्ञात होता है कि राम से कई पीढ़ियों पूर्व तथा बाद में भी राजपद आनुवंशिक ही था। नूतन नृपति के चयन के लिए सभी की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक था। भावी राजा का चुनाव करने के लिए पहले मंत्रीमण्डल को बुलाया जाता था। तथा उसमें भावी राजा के चुनाव का प्रस्ताव रखा जाता था। मंत्रिमण्डल जब इस प्रस्ताव को पारित कर देता, तब उसको सभा द्वारा निर्वाचित कराया जाता था। इस प्रस्ताव पर सामन्त राजाओं की स्वीकृति भी ली जाती थी।[1] महाराजा दशरथ ने राम को युवराज बनाने से पूर्व अपनी सभा की स्वीकृति प्राप्त कर ली थी।[2] राजा की अनुपस्थिति में मंत्रिगण मिलकर नवीन राजा का राज्याभिषेक कर सकते थे, जैसा कि बाली की अनुपस्थिति ने मंत्रियों ने मिलकर सुग्रीव का राज्याभिषेक किया था।[3] उत्तरकाण्ड में राजा नृग ने प्रजाजनों, नैगमों, मंत्रियों तथा पुरोहितो को बुलाकर उनके समक्ष अपने पुत्र को उत्तराधिकारी बनाने का प्रस्ताव रखा था।[4] चित्रकूट पर भरत ने राम से आग्रह किया कि आप यहीं पर प्रजाजनों, ऋत्विजों तथा पुरोहित के हाथों अपना अभिषेक करा लीजिए।[5]

उपर्युक्त उदाहरणों से तत्कालीन राजतंत्र में लोकतंत्र की पुष्टि होती है।

---

१. **रामायण** २/१/४६, २/१४/४०-४।

२. यदिदं मेऽनुत्पार्थं मया साधु सुमन्त्रितम्। भवतो मेऽनुमन्यन्तांकथं वा करवाव्यहम्।
वही २/२/१५

३. ततोऽहंतेः (मन्त्रिभिः) सभागम्य समेतिरभिषेचिते :
वही ४/६/२१

४. आहूय मन्त्रिणः सर्वान्नैगमान्सपुरोधसः। तानुवाच नृगोराजा सर्वांश्च प्रकृतीस्तथा।
…कुमारोऽयं वसुर्नाम स चेहाद्याभिषिच्यताम्॥ **रामायण** ७/५४/५-८।

५. इहैव त्वामिषि चन्तु सर्वाः प्रकृतयः सह। श्रत्विजः सवसिष्ठाश्च मन्त्रविन्मत्रकोविद
वही २/१०६/२६.

रामायण-कालीन समय में प्रायः योग्य ज्येष्ठ पुत्र को ही युवराज-पद पर नियुक्त किया जाता था। यदि वह अयोग्य होता तो उसे अपने पद से वंचित कर दिया जाता था। इसके लिए इतिहास साक्षी है कि राजा सगर ने जनता के अनुरोध पर अपने पुत्र को राज्य से निष्कासित किया था क्योंकि वह दुष्ट तथा अत्याचारी था।[1] यदि किसी राजा के पुत्र नहीं होता तो युवराज-पद का अधिकारी राजा का भाई होता था। राम के राज्य के समय भरत को युवराज-पद पर आसीन किया था, क्योंकि उस समय राम के सन्तान नहीं थी।

राजा का पद तथा व्यक्तित्व बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता था। रामायण में राजा को देवस्वरूप माना गया है। जैसा कि लंकाधिपति रावण ने मारीच को समझाते हुए कहा था कि "तेजस्वी राजा, अग्नि, इन्द्र, सोम, यम और वरुण इन पाँच का रूप धारण करता है। उसमें इन पांचों के गुण, प्रताप, पराक्रम, सौम्य स्वभाव, दण्ड और प्रसन्नता विद्यमान रहते हैं। अतः सभी परिस्थितियों में राजा का सम्मान और पूजन करना चाहिए।[2] इस प्रकार देव-स्वरूप राजा इस धरातल पर शासन करते थे।

रामायण-कालीन शासन-तंत्र के तीन प्रमुख अंग थे। (१) सभा, (२) मंत्रि परिषद् तथा (३) शासनाधिकारी।[3] इन तीनों की सहायता से राजा विधिवत् शासन का संचालन करता था। सभा के सदस्य सभासद अथवा "आर्य-मिश्र कहलाते थे। शासन सम्बन्धी सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर सभा का परामर्श लिया जाता था।

न्याय-वितरण की पद्धति बड़ी सरल तथा निष्पक्ष थी। उस समय न पेशेवर वकील थे और न ही अदालती खर्चे थे। न्यायालय में किसी भी प्रकार की जटिलता नहीं थी। क्योंकि सर्वोच्च न्यायालय का अध्यक्ष स्वयं राजा होता था, जो कि न्यायवस्था के शिखर पर था यहीं फैसला आखिरी समझा जाता था। इसके अतिरिक्त अन्य न्यायाधीश होते थे।

---

१. **रामायणकालीन समाज** पृ० २५५.
२. **रामायण** ३/४०/१२-१४.
३. **रामायणकालीन समाज** पृ० २६६.

उत्तरकाण्ड में न्यायाधीशों के लिए "धर्म-पालक" शब्द प्रयोग में किया गया है। अपराध प्रमाणित होने पर जैसा अपराध होता उसी के अनुसार दण्ड दिया जाता था।

रामायण के पश्चात् अब हम नीतिशास्त्र में निहित राजनीति का अवलोकन करेंगे। कामन्दकीय नीतिसार की रचना कौटिल्य अर्थ-शास्त्र के आधार पर ही की गई है।[1] कामन्दकीय नीतिसार में राज्य के अंगों का वर्णन भी कौटिल्य अर्थशास्त्रानुसार ही किया गया है। कामन्दक ने इसके साथ एक कल्पना संयोजित की है जो कि इस सम्बन्ध में विशेषता-पूर्ण मालूम होती है। और जिसका कौटिल्य के अर्थशास्त्र में केवल आभास ही पाया जाता है। जैसा कि एक स्थान पर कामन्दक ने राज्य के सात अंगों के लिये "परस्परोपकारी" शब्द का उपयोग किया है। आगे चलकर उसने अपने आशय को इस प्रकार स्पष्ट किया है कि यदि किसी भी एक अंग में न्यूनता आ जाये तो सार्वभौमिकता नहीं चल सकती। अर्थात् राजसत्ता के सब अंगों का केन्द्रीभूत सहयोग है।

जब हम राजत्व के साधारण रूप की कल्पना कामन्दकनीतिसार में देखना चाहते हैं तब हमको ज्ञात होता है कि इसने प्राचीन आचार्यों की कल्पना को ही अनवहित रीति से लिखा है। कामन्दक ने राजा के पद को विशेष महत्त्व प्रदान किया है। उसने बतलाया है कि जिस राज्य में राजा गम्भीर होगा तो प्रजा स्वतः ही गम्भीर हो जायेगी लेकिन यदि कोई मंत्रिगण या राज्य का कोई भी पदाधिकारी गम्भीर होगा तो राजा उस पर नियंत्रण कर सकता है।[2] राजा के बारे में यह भी कहा है कि राजा को सर्वप्रथम शिक्षित होना चाहिए,[3] उसके पश्चात् उसके नीचे वाले पदाधिकारियों को, बाद में उसके पुत्र को शिक्षित होना कामन्दक नीति-सार के सर्गों में बताया गया है।[4] राजा को स्वयं पर अनुशासित होने का निर्देश भी दिया गया है।[5] प्रजा की रक्षा का सम्पूर्ण भार राजा

1. U.N. Ghoshal : **A History of Indian Political Ideas** Oxford University Press 1959, Page 374.

२. वही

३. वही

४. U.N. Ghoshal : **A History of Indian Political Ideas—** Oxford Univeraity Press, 1959, Page 374.

५. वही पृ० ३७५.

के ऊपर ही निर्भर है। यदि राजा रक्षण नहीं करेगा तो लोग श्वास भले ही ले पर वे जीवित नहीं रह सकते। राजा कर्त्तव्यच्युत हो जाये तो प्रजा कभी जीवित नहीं रह सकती। इस सृष्टि से राजा का पद सर्वाधारभूत व महत्त्वपूर्ण है। प्रजा का सुख-दुःख राजा के व्यक्तित्व पर निर्भर है।

कामन्दक के नीतिसार में राजनैतिक परम्परा पर दृष्टिपात करने के पश्चात् हम पुराणों में निहित राजनैतिक विचारों का निरूपण करेंगे। पुराणों में राजा के पद सम्बन्धी जो भाव व्यक्त किये गये हैं वे पूर्णतया महाभारत एवं मनुसंहिता से लिए गए हैं। पुराणों में राजा की सत्ता जिस सिद्धान्त पर मानी गई है, उसका आधारभूत है राजा के ईश्वरांश होने की कल्पना। यही कल्पना महाभारत की है। "विष्णुधर्मोत्तर" में लिखा है कि राजा शरीर के अंगों तथा विकारों में अन्य मनुष्यों के सदृश होते हुए भी पृथ्वी पर देवता की तरह निवास करता है। इसके अतिरिक्त राजा के देवत्व के सिद्धान्त के सम्बन्ध में हमारे वर्तमान विचारणीय ग्रन्थ में हमें वे ही स्वरूप मिलते हैं, जो कि महाभारत एवं मनुसंहिता में पाये जाते हैं।

इस प्रकार मनुष्यों के कल्याणार्थ विभिन्न देवताओं ने दण्डनीति पर भी ग्रंथ-रचना की। महाभारत के वर्णन से राज्य-शास्त्र अथवा दण्डनीति की प्राचीनता प्रकट होती है। भारत में राज्य-शास्त्र का उद्भव कब हुआ, इसकी ऐतिहासिक तिथि बतलाना अत्यन्त कठिन है, परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि राज्य-शास्त्र का अध्ययन भारत में प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। महाभारत में शान्तिपर्व में राज्य-शास्त्र के प्राचीन आचार्यों का उल्लेख मिलता है। इन आचार्यों ने राजनीति-शास्त्र पर विशाल ग्रंथों की रचना की थी; जिनके नाम पूर्व में दिए गए हैं। कौटिल्य ने भी अपने अर्थ-शास्त्र में उपर्युक्त अधिकांश आचार्यों का उल्लेख किया है। अर्थ-शास्त्र में विभिन्न स्थलों पर इन आचार्यों के मत भी उद्धृत किए गए हैं। कौटिल्य ने पूर्व में बताए हुए आचार्यों के प्रति अपना आभार दर्शाया है, तथा उनकी रचनाओं को अपने ग्रन्थ का आधार बनाया है। इससे सिद्ध होता है कि कौटिल्य से पूर्व ही भारत में राज्य-शास्त्र का विधिवत् अध्ययन प्रारम्भ हो गया था। उपर्युक्त सभी बातों को लक्ष्य में रखकर डा० भण्डारकर का यह मत है कि भारत में

राजनीति-शास्त्र का विधिवत् अध्ययन ईसा से सातवीं शताब्दी पूर्व से कम नहीं हो सकता ।[1]

वर्तमान उपलब्ध राजनीति-प्रधान ग्रंथों में यद्यपि कौटिल्य का अर्थशास्त्र सबसे प्राचीन माना जाता है । कौटिल्य-अर्थशास्त्र, महाभारत, कामन्दकीय नीतिसार, तथा नीतिवाक्यामृत जैसे ग्रन्थों की टीकाओं में अनेक प्राचीन महाराजनीतिज्ञों के मतों का उल्लेख प्राप्त होता है, जिनकी रचनाएँ आज उपलब्ध नहीं हैं । वर्तमान उपलब्ध राजनैतिक वाङ्मय में कौटिल्य अर्थशास्त्र, मनुस्मृति, शुक्रनीतिसार, कामन्दकीय नीतिसार, याज्ञवलक्य स्मृति तथा नीतिवाक्यामृत प्रमुख ग्रन्थ हैं ।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त बहुत-सा प्राचीन साहित्य है, जिसमें राजनीति के अनेक बहुमूल्य तत्त्व समाविष्ट हैं । इस कोटि में बौद्ध और जैन साहित्य को रखा जा सकता है । बौद्ध और जैन साहित्य में हालांकि शुद्ध राजनीति के तत्त्व समाविष्ट नहीं हैं, फिर भी यह साहित्य राजनीति सम्बन्धी अनेक विशेषताओं और सिद्धान्तों को लिए हुए है ।

बौद्ध धर्म आज से वर्षों पुराना है । बौद्ध ग्रन्थों में राजा के पद के सूत्रपात की जो कल्पनाएँ हैं, वे कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दी हुई कल्पनाओं से बहुत कुछ मिलती हैं । बौद्ध ग्रन्थों में राजा की उत्पत्ति का वर्णन इस प्रकार है :– समाज में चोरी का प्रवेश होने पर समाज के लोगों ने एकत्रित होकर प्रस्ताव रखा कि जो व्यक्ति दण्डनीय व्यक्ति को दण्ड दे सके, उपालम्भ के योग्य व्यक्ति को उपालम्भ कर सके, जिनका देश निर्वासिन करना है, उनको निर्वासित कर सके, बदले में लोगों ने उसे अपने धान्य का षष्ठांश भाग देने का निश्चय किया । तब उन्होंने अपने में से स्वरूपवान, शीलवान तथा शक्तिशाली व्यक्ति को अपना राजा चुना । बड़े-बड़े लोगों की स्वीकृति प्राप्त होने के कारण वह "महासम्मत"

---

१. डॉ० एम० एल० शर्मा: **नीतिवाक्यामृत में राजनीति**, दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन १९७१. पृ० २.

कहलाया ।[1] क्षत्रिय वह इसलिए कहलाया, क्योंकि वह क्षेत्रों (खेतों) का स्वामी था । दूसरी कल्पनानुसार, राज्य की प्राकृतिक अवस्था की कल्पना की गई है, जिसमें राजत्व का आविर्भाव हुआ है, और वह इस रूप में कि राजपद के निर्माण में सर्व व्यक्तियों ने अपनी-अपनी स्वीकृति दी । सभी की सहमति पर राजा की सृष्टि हुई । बौद्धमत की यह राजनैतिक कल्पना पाली सूत्रों में विकसित रूप से पाई जाती है ।[2]

जैन साहित्य में राजनीति-शास्त्र के अध्ययन की परम्परा क्या थी ? किस प्रकार राजा तथा राज्य की उत्पत्ति हुई ? इस बारे में विस्तृत जानकारी अगले अध्याय में प्रेषित की गई है ।

---

१. **Saletore : Ancient** Indian Political Thought and Institution. पृ० ३२३.
दीघ निकाय : भाग ३ सम्पा० महाबोधि : बनारस : महाबोधि सभा सारनाथ १९३६, पृ० ६८-६९.

२. वही

द्वितीय अध्याय

"जैन पुराण साहित्य का परिचय"

पूर्व अध्याय में हमने भारत में राजनीति-शास्त्र की प्राचीन परम्परा का दिग्दर्शन किया। अब मैं अपना विषय "भारतीय राजनीति : जैन पुराण साहित्य संदर्भ में" प्रारम्भ करने से पूर्व पुराणों का संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक समझती हूं। सर्व प्रथम प्रश्न यही उठता है कि "पुराण" किसे कहते हैं।

भारतीय परम्परा के अनुसार "पुराण" शब्द बहुत प्राचीन है। इतिहास के प्रारम्भ से ही इस शब्द का प्रयोग चला आ रहा है। "पुराण" का अर्थ है प्राचीन काल की घटनाओं को बताने वाला ग्रन्थ। "पुराण" के प्रादुर्भाव तथा पौराणिक-साहित्य में पर्याप्त अन्तर मिलता है। "पुराण" शब्द का उदय तो बहुत पहले ही हो चुका था, परन्तु पौराणिक ग्रन्थ बाद में रचे गए।

"पुराण" शब्द से वैसे तो आप अवगत होंगे ही, लेकिन फिर भी पुन: स्मरण कराने हेतु संक्षेप में यहां बता रही हूं। कोषकारों ने पुराण के निम्न लक्षण बताए हैं :—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराण्यिच।
वंशानुचरित चैव पुराणं प चलक्षणम्॥[1]

जिसमें सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंश-पराम्पराओं का

---

१. महापुराण भाग १ : भगवज्जिनसेनाचार्य, काशी: भारतीय ज्ञानपीठ, १९४४, प्रस्तावना पृ० १९.

उल्लेख हो वह पुराण है। अर्थात् सर्ग, प्रतिसर्ग आदि पुराण के पाँच लक्षण हैं।

पुराण शब्द का उल्लेख सबसे पहले वैदिक ग्रन्थों में मिलता है। ऋग्वेद में कई स्थानों पर पुराण शब्द का उल्लेख है।[१] अथर्ववेद के दो मंत्रों में "पुराण"[२] तथा "पुराणवित्"[३] शब्द मिलते हैं। गोपथ ब्राह्मण में उपनिषद कल्प आदि के साथ-साथ पुराण को वेदांग के रूप में माना है।[४] इसमें अन्यत्र दो प्रसंगों "पुराणवेद" और इतिहासवेद" का भी उल्लेख है।[५] पं० बलदेव उपाध्याय के अनुसार इस समय तक "इतिहास" तथा "पुराण" में भिन्नता हो चुकी थी।[६]

जैनाचार्यों ने जैन पुराण का उद्भव तीर्थंकर ऋषभदेव से बताया है। महापुराण में पुराण के आदिकर्त्ता महावीर और उत्तरकर्त्ता गौतम गणधर को बताया गया है।[७] पुराणों का विकास बतलाते हुए जिनसेनचार्य का कथन है कि आदि ब्रह्मा प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने सर्व प्रथम भरत को प्रथम पुराण सुनाया था। उसी पुराण को गौतम गणधर ने श्रेणिक को सुनाया था।[८] कालान्तर में इसी पुराण का विकास हुआ।

---

१. "ऋग्वेद" : सम्पा० विश्वबन्धुः विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान १९६४-६५. ३/५८/६, १०/१३०/६.
२. "अथर्ववेद" भाग ४ : पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, पारडी, स्वाध्याय मण्डल, १९५८, ११/७/२४.
३. वही-११/८/७.
४. गोपथ ब्राह्मण १/२/१०, आधार, देवी प्रसाद मिश्र : जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन, शोध प्रबन्ध, इलाहाबाद. संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग विश्वविद्यालय १९७६, पृ० १.
५. वही—
६. आचार्य बलदेव उपाध्यायः पुराण विमर्श, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, १९६५, पृ० १.
७. महा पु० १/२०७.
८. वही

जैन पुराण जैनेत्तर अष्टादश पुराणों से भिन्न हैं। यहाँ मैं सिर्फ जैन पुराणों का ही विवेचन करूंगी। जैन पौराणिक महाकाव्यों की कथा-वस्तु जैन धर्म के शलाका पुरुषों तथा तीर्थंकर, बलदेव, वासुदेव आदि ६३ महापुरुषों के जीवन चरित्रों को लेकर निबद्ध की गई है। इनके अलावा अन्य धार्मिक पुरुषों के जीवन-चरित्र भी वर्णित हैं। इन काव्यों को पुराण चरित्र या माहात्म्य नाम से भी जाना जा सकता है। भारतीय साहित्य में कुछ ऐसे राष्ट्रीय चरित्र हैं, जो सभी वर्गों को रूचिकर हैं। जैसे :—राम, कृष्ण और कौरव, पाण्डवों के चरित्र भी इसी प्रकार के हैं। इनकी कथावस्तु को लेकर ही रामायण, महाभारत और हरिवंश पुराण आदि की रचना हुई है। जैनों के महाकाव्य भी इन्हीं राष्ट्रीय चरित्रों को लेकर प्रारम्भ होते हैं।

जैन पुराणों में "पुराण" के दो भेद बतलाये गये हैं। "पुराण" और "महापुराण"। जिसमें एक शलाकापुरुष का चरित्र-चिवण वर्णित हो उसे पुराण कहते हैं और जिसमें तिरेसठ शलाका पुरुषों के चरित्र वर्णित हों, उसे महापुराण कहते हैं।[1] इसके अलावा सृष्टि की रचना, विश्व का स्वरूप, खगोल, भूगोल आदि का भी विस्तृत वर्णन उद्धृत होता है।

वैदिक ग्रंथों में इतिहास और पुराण शब्द साथ-साथ अर्थात् इतिहास वेद तथा पुराण वेद के रूप में प्रयुक्त हुए हैं, परन्तु वहां पर इतिहास का अर्थ स्पष्ट नहीं है। उत्तर वैदिक काल में इतिहास और पुराण स्पष्ट रूप से प्रकाश में आये। पौराणिक एवं अपौराणिक साक्ष्यों का अध्ययन करने के पश्चात् पं० बलदेव उपाध्याय इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि इतिहास और पुराण का अन्तर परवर्तीकाल में मिलता है।[2]

कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में पुराण के साथ "इतिवृत्त" शब्द वर्णित है, जो कि इतिहास है। इतिहास को पुराण, इतिवृत्त, आख्यान, धर्म-शास्त्र, तथा अर्थशास्त्र कहा गया है।[3]

१. महा पु० १/२२-२३, **पाण्डव पुराणम् : शुभचन्द्र सम्पा० ए० एन० उपाध्ये तथा हीरालाल जैन, शोलापुर, जीवराज गौतमचन्द दोशी १९५४, पृ० ६.**

२. **पुराण विमर्श पृ० ६.**

३. **अर्थशास्त्र—कौटिल्य, अनु० शाम शास्त्री, मैसूर, ओरीएन्टल लाइब्रेरी, १९२९,** ५/१३-१४.

जैन पुराणों में उक्त विचार परिलक्षित होते हैं। महापुराण में पुरातन को पुराण कहा गया है।[1] इसी पुराण में अन्यत्र पुराण को "इतिहास", "इतिवृत्त" तथा "ऐतिह्य" कहा गया है।[2] यही विचार कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी पाया जाता है। आलोचित जैन पुराणों में इतिहास तथा पुराण को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि इतिवृत्त (इतिहास) केवत्र घटित घटनाओं का ही वर्णन करता है, परतु पुराण उनसे प्राप्त फलाफल, पुण्य-पाप का भी वर्णन करता है और व्यक्ति के चरित्र-निर्माण की अपेक्षा बीच-बीच में नैतिक और धार्मिक भावनाओं का भी प्रदर्शन करता है। इतिवृत्त में केवल वर्तमानकालिक घटनाओं का ही उल्लेख रहता है, परन्तु पुराण में नायक के अतीत, अनागत भावों का भी उल्लेख रहता है और वह इसलिए कि जन-साधारण समझ सकें कि महापुरुष किस प्रकार बना जाता है। अवनत से उन्नत बनने के लिए दया तथा त्याग और तपस्याएँ करनी पड़ती हैं। वस्तुतः मनुष्य के जीवन-निर्माण में पुराण का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि उसमें जनसाधारण की श्रद्धा आज भी यथापूर्ण अक्षुण्ण है।[3]

जैन पुराणों के उद्भव के विषय में कहा गया है कि तीर्थंकर आदि के जीवनों के कुछ तथ्यों का संग्रह स्थनांग सूत्र में मिलता है। जिसके आधार पर श्वेताम्बर आचार्य हेमचन्द्र आदि ने "त्रिषष्टि महापुराण" आदि की रचनाएँ कीं। दिगम्बर परम्परा में तीर्थंकर आदि के चरित्र के तथ्यों का प्राचीन संकलन हमें प्राकृत भाषा के "तिलोय पण्णति" ग्रन्थ में मिलता है। चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रति-नारायण, नौ बलभद्र तथा ग्यारह रुद्रों के जीवन तथ्य भी इसी में संग्रहीत हैं। इन्हीं के आधार से विभिन्न पुराणकारों ने अपनी लेखनी के बल पर छोटे-बड़े अनेक पुराणों की रचना की है।[4]

जैन पुराणों की विशेषतायें :—

जैन पुराणों में न केवल कथानक मात्र है, अपितु प्रसंगानुसार धर्म

---

१. पुरातन पुराणं स्यात्………। महा० पु० १/२१.

२. वही-१/२५.

३. पुरातनं पुराणं स्यात्……। महा० पु० प्रस्तावना पृ० १६.

४. महा० पु० प्रास्ताविक, पृ० ७.

व नीति के अतिरिक्त नाना प्रकार की कलाओं और विज्ञान एवं राजनीति का भी परिचय विस्तार से किया गया है ।

जैन पुराणों की कथावस्तु रामायण, महाभारत तथा तिरेसठ शलाका पुरुषों के जीवन चरित के आधार पर निरूपित है। इसके अलावा उसमे अन्य धार्मिक पुरुषों के जीवन-चरित्र भी वर्णित हैं । जैन इतिहास के अनुसार इन जीवन चरित्रों का आदि स्रोत जैन परम्परा में ही ढूंढ़ने का प्रयास किया गया है। इनका उद्‌गम जैनागमों, भाष्यों और प्राचीन पुराणों में मिलता है ।

जैन पुराणों में धर्म प्रधान माना गया है । जैन विद्वानों ने इस बात पर बल दिया है कि कर्म प्रधान है, और क्रमानुसार लोगों को उसका फल प्राप्त होता है । जैन पुराणों में जहाँ पर एक और मूल कथा मिलती है, वहीं पर दूसरी ओर कथाओं को आगे बढ़ाने एवं उपदेश को समझाने के लिए अवान्तर कथाओं का भी वर्णन किया गया है ।

जैन पुराणों की भाषा सीधी एवं सरल है । क्योंकि ये पुराण जन-साधारण को ध्यान में रखकर बनाये गए थे, जिससे इनको सभी जन पढ़ एवं समझ सकें । जैन पुराणों में पौराणिक शैली तथा काव्यात्मक शैली का ऐसा संमिश्रण हो गया है जो कि पारम्परिक पुराणों में बहुत कम दृष्टिगोचर होता है । इन पुराणों में अलौकिक तथा अप्राकृतिक तत्त्वों की प्रधानता नहीं है । जैन पुराणों में लोक, देश, नगर, राज्य, तीर्थ, दान, तप, गति तथा फल ये आठ पुराण के विषय बताये हैं ।[1]

जैन पुराणों में सामान्य रूप से सभी विशेषताएँ मिलती हैं । इनमें प्रारम्भ में तीन लोक, कालचक्र तथा कुलकरों का प्रादुर्भाव वर्णित है । तदनन्तर जम्बूद्वीप[2] और भारतक्षेत्र में वंश विस्तार करके वहां पर

---

१. **हरिवंश पुराण** : आचार्य जिनसेन अनु० प० पन्नालाल जैन, काशी, भारतीय ज्ञानपीठ, १९१९, १/७१-७२, महा० पु० ४/१३.

२. **जम्बू द्वीप** :—जैन मान्यतानुसार एक लाख योजन लम्बाई, चौड़ाई वाला जम्बूद्वीप होता है । उसके चारों तरफ लवण समुद्र होता है । उसके बीच में मेरू पर्वत होता है । मेरू पर्वत के दक्षिण में भारतवर्ष होता है, जिसमें कि हम रहते हैं ।

नोट : विशेष जानकारी के लिए देखिए, सम्पा० नित्यानंद विजयजी : **वृहद क्षेत्र समास** भाग १, खम्भात : ताराचंद, अम्बालाल, माणक चौक, १९७८.

तीर्थों की स्थापना की गई है। इसके अलावा सत्पुरुषों के पूर्व भवों का वर्णन उपलब्ध है। पूर्वभव की कथाओं के अतिरिक्त प्रसंगानुसार अवान्तर कथायें और लोक कथाओं का भी वर्णन मिलता है। जैन पुराणों में कथाओं के साथ-साथ जैनाचार्यों के उपदेश भी मिलते हैं। जो कि कहीं पर विस्तार से कहीं पर संक्षिप्त रूप में हैं। उनमें जैन सिद्धान्तों का प्रतिपादन, सत्कर्म प्रवृत्ति तथा असत्कर्म निवृत्ति, संयम, तप, त्याग, वैराग्य, ध्यान, योग, कर्म सिद्धान्त की प्रबलता के साथ हुआ है। इसके अतिरिक्त तीर्थंकरों की नगरी, माता-पिता का वैभव, कर्म, जन्म, अतिशय, क्रीड़ा, शिक्षा, राज्याभिषेक, दीक्षा, तपस्या प्रव्रज्या, परिषट, उपसर्ग, केवलज्ञान प्राप्ति, समवसरण, धर्मोपदेश, विहार, निर्वाह, इतिहास आदि का वर्णन संक्षेप या विस्तार के साथ मिलता है।

जैन मान्यतानुसार आचार्यों द्वारा वर्णित होने के कारण जैन पुराण प्रमाणभूत माने गए हैं।[1] महापुराण में वर्णित है कि जो पुराण का अर्थ है वही धर्म का अर्थ है। वस्तुतः पुराण पाँच प्रकार का बताया गया है। क्षेत्र, काल, तीर्थ, सत्पुरुष और सत्पुरुष का चरित्र।[2] जैन पुराणों में चार पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम, एवं मोक्ष पर विशेष बल दिया गया है, और उन्हीं के कथन का सत्पुरुषों द्वारा उपदेश दिया गया है।[3] पुराण को पुण्य, मंगल, आयु, तथा यश को बढ़ाने वाला श्रेष्ठ और स्वर्ग देने वाला बताया गया है।[4]

जिस प्रकार की सामग्री पारम्परिक पुराणों तथा उपपुराणों में प्राप्त है, वैसी जैन पुराणों में नहीं पायी जाती। परन्तु जो भी जैन पुराण साहित्य विद्यमान है, वह अपने ढंग का निराला एवं अनूठा है। इसलिए

---

१. महा० पु० १/२०४.

२. स च धर्मः पुराणार्थः पुराणं य चथा विदुः।
क्षेत्रं काल च तीर्थश्च सत्पुंसस्तद्विचेष्ठितम् ॥ महा० पु० २/३८.

३. **उत्तरपुराण:** श्री गुणभद्राचार्य सम्पा० पन्नालाल जैन, काशी, भारतीय ज्ञानपीठ १९५४, ५४/७, पाण्डव पु० १/४१.

४. **महापुराण** १/२०५.

आज के निष्पक्ष विद्वानों का यह स्पष्ट मत है कि हमें प्राक्कालीन भारतीय परिस्थिति को जानने के लिए जैन पुराणों से, उनके कथा ग्रंथों से सहायता प्राप्त होती है। इतिहास का संक्षिप्त भण्डार जैन पुराणों में मिलता है।[1]

जैन पुराणों की भाषा एवं रचना काल :

जब पारम्परिक पुराणों को अन्तिम रूप दिया जा रहा था, उस समय उनके अनुकरण एवं साम्प्रदायिक प्रेरणा एवं आवश्यकता से जैनाचार्यों ने पुराणों की रचना की। अपने धर्म के प्रचार के लिए जैनाचार्यों ने सर्वप्रथम जन-साधारण की बोलचाल की भाषा को ही जैन साहित्य की भाषा बनाया। इसलिए समय-समय पर परिवर्तित परिस्थिति में जैन पुराणों की रचना हुई। चूंकि पारम्परिक पुराणों का रचनाकाल अज्ञात है। किन्तु जैन पुराणों के रचनाकाल तथा रचनाकारों के विषय में पर्याप्त जानकारी प्राप्त हो जाती है। इससे विभिन्न पुराणों की तिथि निर्धारण करने में सुविधा होती है।

गुप्तोत्तर काल में लोगों की बोलचाल की भाषा प्राकृत थी। इसलिए जैनों ने प्राकृत में जैन पुराणों की रचना की है। (प्राकृत के बाद) संस्कृत भाषा के महत्त्व को स्वीकार करके जैन विद्वान इस क्षेत्र में भी पीछे नहीं रहे। उन्होंने बड़ी संख्या में पुराणों का प्रणयन किया। इसके बाद अपभ्रंश भाषा लोकप्रिय हो गयी तो जैनाचार्यों ने अपभ्रंश में पुराणों की रचना की। इसके साथ ही जैनों ने क्षेत्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए क्षेत्रीय भाषाओं में भी पुराणों की रचना की है।

जैन पुराणों जी रचना विभिन्न कालों में हुई है। प्राकृत जैन पुराणों का रचनाकाल छठी शती से लेकर पन्द्रहवीं शती तक, संस्कृत पुराणों का समय सातवीं शती से अट्ठारहवीं शती तक और अपभ्रंश पुराणों की तिथि दसवीं शती से सोलहवीं शती है। प्रायः ये सभी जैन पुराण प्राकृत, संस्कृत या अपभ्रंश में से किसी एक ही भाषा में हैं, इस प्रकार सभी जैन पुराणों का रचनाकाल लगभग छठी शती से अट्ठारहवीं

---

१. फूलचन्द : "जैन पुराण साहित्य", **श्रमण** १९५३, वर्ष ४, अंक ७-८, पृ० ३६ तथा महा० पु० पृ० २०.

शती तक निर्धारित किया गया है।[1]

पुराण, जैन पुराण तवा महापुराण की व्याख्या बतलाने के पश्चात् मैंने जिन मूल पुराणों को अपने विषय का आधार बनाया है उनकी सूची निम्नांकित है।

नाम	कर्त्ता	भाषा	रचना संवत्
१. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति	गणधर सुधर्मास्वामी	प्राकृत	विक्रमपूर्व
२. पउमचरिय	विमलसूरि	प्राकृत	चौथी शताब्दी
३. वसुदेव हिण्डी	संघदासगणि	प्राकृत	चौथी शताब्दी
४. आवश्यक निर्युक्ति	भद्रवाहु	प्राकृत	छठी शताब्दी
५. आबश्यक चूर्णी	जिनदास गणिमहत्तर	प्राकृत	छठी शताब्दी
६. पद्म पुराण	रविषेण	संस्कृत	छठी शताब्दी
७. हरिवंश पुराण	जिनसेन	संस्कृत	सातवीं शताब्दी
८. आदि पुराण (महापुराण)	जिनसेन	संस्कृत	नवीं शताब्दी
९. महापुराण	महाकवि पुष्पदंत	अपभ्रंश	नवीं शताब्दी
१०. उत्तर पुराण	गुणभद्राचार्य	संस्कृत	दसवीं शताब्दी
११. चउपन्न महापुरिस चरिय	शीलांक-शीलाचार्य	प्राकृत	दसवीं शताब्दी
१२. त्रिशष्टिशलाका पुरुषचरित्र	आचार्य हेमचन्द्र	संस्कृत	बारहवीं शताब्दी

मूल आधार ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय

१. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति :—

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति जैन आगमों का छठा उपांग है। गणधर सुधर्मा-स्वामी द्वारा इस विशाल उपांग की रचना की गई है। चन्द्र प्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति और जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति ये तीन प्रज्ञप्तियां प्राचीन हैं। इसमें संदेह

१. ऋषभचन्द्र के० "ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ पाउमचरिउम आव विमलसूरि" अहमदाबाद, पृ० ७२-७३.

को कोई स्थान नहीं है। दिगम्बर परम्परा ने दृष्टिवाद के परिकर्म में इन तीनों प्रज्ञप्तियों का समावेश किया है; और दृष्टिवाद के अंश का अविच्छेद भी माना है। तो यही अधिक सम्भव है कि ये तीनों प्रज्ञप्तियाँ विच्छिन्न न हुई हों। इनका उल्लेख श्वेताम्बरों के नन्दी आदि सूत्रों में भी मिलता है। अतएव यह तो माना ही जा सकता है कि इन तीनों की रचना श्वेताम्बर-दिगम्बर के मतभेद पूर्व ही हो चुकी थी। इस दृष्टि से इनका रचना काल विक्रम के प्रारम्भ से इधर नहीं आ सकता। अर्थात् इनका समय विक्रम पूर्व ही हो सकता है, बाद में नहीं।[1]

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति पर मलयगिरि ने टीका लिखी थी लेकिन वह कालदोष के प्रभाव से नष्ट हो गई। तत्पश्चात् इस पर कई टीकायें लिखी गईं। धर्मसागरोपाध्याय ने वि० सं० १६३९ में टीका लिखी जिसे उन्होंने अपने गुरु हीरविजय के नाम से प्रसिद्ध किया। पुण्यतागरोपाध्याय ने वि०सं० १६४५ में इसकी टीका की रचना की। यह टीका अप्रकाशित है। इसके बाद बादशाह अकबर के गुरु हीरविजय सूरि के शिष्य शन्तिचन्द्रवाचक ने वि० सं० १६५० में प्रमेयरत्नमंजूषा नाम की टीका लिखी। यह ग्रंथ दो भागों में विभाजित है—पूर्वार्ध और उत्तरार्ध। पूर्वार्ध में चार और उत्तरार्ध में तीन वक्षस्कार हैं, जो १७६ सूत्रों में विभक्त हैं।[2]

पहले वक्षस्कर में जम्बूद्वीपस्थित भरत क्षेत्र (भारत वर्ष) का वर्णन है जो अनेक दुर्गम स्थान, पर्वत, गुफा, नदी, अटवी, श्वापद आदि से वेष्टित है। दूसरे वक्षस्कार में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी का वर्णन करते हुए सुषमा-सुषमा नाम के छः कालों का विवेचन है। सुषमा-सुषमा काल में दस प्रकार के कल्पवृक्षों का वर्णन है जिनसे कि इष्ट पदार्थों की प्राप्ति होती थी। सुषमा-सुषमा नाम के तीसरे काल में १५ कुलकरों का जन्म हुआ जिनमें से अन्तिम कुलकर नाभि की पत्नी मरुदेवी से आदि तीर्थंकर ऋषभदेव उत्पन्न हुए। ऋषभ कौशलदेश के निवासी थे तथा वे प्रथम जिन, प्रथम केवली, प्रथम तीर्थंकर, प्रथम धर्मचक्रवर्ती कहे जाते थे। उन्होंने ७२ पुरुषों की कलाएँ, स्त्रियों की ६४ कलाओं तथा अनेक शिल्पों

१. पं० बेचरदास दोशी, सम्पा० पं० दलसुखभाई मालवणिया, डा० मोहनलाल मेहता : **जैन साहित्य का बृहद् इतिहास** भाग १, वाराणसी : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान १९६६, प्रस्तावना पृ० ५३.

२. वही

का उपदेश दिया। तत्पश्चात् अपने पुत्रों का राज्याभिषेक कर श्रमण धर्म में दीक्षा ग्रहण की।

पूर्वार्ध भाग के सुषमा-सुषमा नामक चौथे आरे में अरहंत, चक्रवर्ती और दशारवंशों में २३ तीर्थंकर, ११ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव उत्पन्न हुये। तीसरे वक्षस्कार में भरत चक्रवर्ती और उनकी दिग्विजय का विस्तृत वर्णन है। इस अवसर पर भरत और किरातों की सेनाओं में घनघोर युद्ध का वर्णन किया गया है।[1]

२. पउमचरिय :—

"पउमचरिय" कृति जैन पुराण साहित्य में सबसे प्राचीन है। ग्रंथ के अन्त में दी हुई प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि इसके कर्त्ता नाइलकुल वंश के विमलसूरि थे। प्रशस्ति में दी हुई एक गाथा से पता चलता है कि यह कृति वीर निर्वाण संवत् ५३० में अर्थात् ई० सन० ४ मे लिखी गई थी।[2] प्रो० याकोबी ने विमलसूरि का समय ई० सन् की चौथी शताब्दी माना है।[3] जैन मान्यतानुसार इसमें राम-कथा का वर्णन है। यह ११८ अधिकारों में विभक्त है जिनमें कुल ८६५१ गाथएँ हैं, जिनका मान १२ हजार श्लोक प्रमाण है। इसमें राम का नाम पद्म दिया गया है। वैसे राम नाम भी उद्धृत किया गया है। इस ग्रंथ के रचने में ग्रंथकार का मूल उद्देश्य यह था कि वह प्रचलित राम कथा के ब्राह्मण रूप को अपने सम्प्रदाय के लिए जैन रूप में प्रस्तुत करना था।

पउमचरिय की कथावस्तु सात अधिकारों में विभक्त है। स्थिति, वंशोत्पत्ति, प्रस्थान, रण, लव-कुशोत्पत्ति, निर्वाण और अनेक भव। जैन

---

१. जगदीशचन्द्र जैन, सम्पा० दलसुखभाई मालवणिया तथा डा० मोहनलाल मेहता "**जैन साहित्य का बृहद् इतिहास**" भाग २, वाराणसी, पार्श्वनाथ शोध संस्थान, १९६६, पृ० १२२.

२. गुलाब चंद चोधरी, सम्पा० दलसुख भाई मालवणिया तथा डा० मोहनलाल मेहता : **जैन साहित्य का बृहद् इतिहास** भाग-६, वाराणसी : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान १९७३, पृ० ३८.

३. जगदीशचन्द्र जैन : **प्राकृत साहित्य का इतिहास**, वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन, १९६१, पृ० ५२८.

मान्यतानुसार कथासृष्टि के वर्णन से प्रारम्भ होती है। प्रथम २४ उद्देशों में ऋषभादि तीर्थंकरों के वर्णन इक्ष्वाकु वंश की उत्पत्ति बतलाते हैं। ऋषभदेव का वर्णन करते हुए उस समय कृतयुग में क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन्हीं तीन वर्णों का वर्णन है।

पउमचरिय के अन्तः परीक्षण से हमें गुप्त-वाकाटक युग की अनेक प्रकार की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सामग्री मिलती है। इसमें वर्णित अनेक जन-जातियों, राज्यों और राजनैतिक घटनाओं का तत्कालीन भारतीय इतिहास से सम्बन्ध स्थापित किया गया है। दक्षिण भारत के किलों और पर्वतों का उल्लेख है तथा आनन्दवंश और क्षत्रप रुद्रभूति का भी उल्लेख है। उज्जैन और दशपुर राजाओं के बीच संघर्ष, गुप्त राजा कुमार गुप्त और महाक्षत्रपों के बीच संघर्ष की सूचना देता है। इसमें नंद्यावर्तपुर का उल्लेख है जिनका वाकटकों की राजधानी नन्दिवर्धन से साम्य स्थापित किया जाता है।

३. **वसुदेव हिण्डी** :—

आगम-बाह्य ग्रन्थों में यह कृति कथा साहित्व में प्राचीनतम मानी जाती है। वसुदेव हिण्डी का रचना काल पाँचवीं शताब्दी माना जाता है।[1] इस ग्रंथ के लेखक संघदासतगणि वाचक हैं। यह मुख्यतया गद्यात्मक समासात पदावलि में लिखी गई एक विशिष्ट रचना है, बीच-बीच में इसमें पद्य भी आ जाते हैं। भाषा, सरल, स्वाभाविक और प्रसादगुण युक्त है। भाषा प्राचीन महाराष्ट्री प्राकृत है, जिसकी तुलना चूर्णी ग्रंथों से की जा सकती है।[2]

इसके अन्तर्गत कृष्ण के पिता वसुदेव के भ्रमण का वृतान्त है, इसलिए इसे वसुदेव चरित्र नाम से भी जाना जाता है। इसमें हरिवंश की स्थापना की गई है और कौरव-पाण्डवों को गौण स्थान दिया गया है। निशीथ, विशेषचूर्णी में सेतु और चेटक कथा के साथ वसुदेव चरित्र का उल्लेख है। इस ग्रंथ के दो खण्ड हैं। पहले खण्ड में २९ लंभक ११,००० श्लोक प्रमाण हैं। दूसरे खण्ड में ७१ लंभक १७,००० श्लोक प्रमाण हैं। प्रथम खण्ड के लेखक संघदासगणिवाचक और दूसरे के धर्म-

---

१. प्राकृत साहित्य का इतिहास पृ० ३८१.

२. वही पृ० ३८२.

सेनगणि हैं।[1] प्रथम खण्ड के बीच का और अन्तिम भाग खण्डित है। दूसरा खण्ड अप्रकाशित है। कथा का विभाजन छः भागों में किया गया है। कहुप्पति (कथा की उत्पत्ति), पीढिया (पीठिका), मुह (मुख), पडिमुह (प्रतिमुख), सरीर (शरीर) और उपसंहार (उपसंहार)। प्रथम खण्ड के प्रथम अंश में सात लंभक हैं। यहां से शरीर विभाग आरम्भ होता है और दूसरे अंश के २९वें लंभक तक चलता है। वसुदेव भ्रमण के वृतान्त की आत्मकथा का विस्तार इसी विभाग से शुरू होता है। उक्त लंभकों में से १९ और २०वें लंभक उपलब्ध नहीं तथा २८ वां लंभक अपूर्ण है। दूसरे खण्ड के अनुसार वसुदेव सौ वर्ष तक परिभ्रमण करते रहे और सौ कन्याओं के साथ उन्होंने विवाह किया।[2] वसुदेव भ्रमण के अतिरिक्त अनेक अन्तर्कथाएं हैं, जिनमें तीर्थंकरों तथा अन्य शलाका पुरुषों के चरित्र हैं।[3]

४. आवश्यक निर्युक्ति :—

आचार्य भद्रबाहु ने जैनागमों के पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करने के लिए प्राकृत पद्य में निर्युक्तियों की रचना की। निर्युक्ति की व्याख्या पद्धति बहुत प्राचीन है। इन्होंने दस निर्युक्तियों की रचना की थी। आचार्य भद्रबाहु कृत दस निर्युक्तियों में से आवश्यक निर्युक्ति सर्वप्रथम है। "आवश्यक नियुक्ति का समय पांचवीं-छठी शताब्दी के मध्य का है।"[4] इसमें ऋषभदेव के पूर्वभव एवं कुलकरों की चर्चा प्रारम्भ होती है। निर्युक्ति के अनुसार अन्तिम कुलकर नाभि थे, जिनकी पत्नी मरुदेवी थीं। उन्हीं की कुक्षि से ऋषभदेव का जन्म हुआ था। इसमें ऋषभदेव के जीवन सम्बन्धी निम्न घटनाओं का वर्णन किया गया है।

जन्म, नाम, बुद्धि, जातिस्मरण, विवाह, अपत्य, अभिषेक, राज्य संग्रह आदि। इन घटनाओं के साथ-साथ युग के आहार, शिल्प कर्म,

---

१. प्राकृत साहित्य का इतिहास; पृ० ३८१.
२. वहीं पृ० ३८२.
३. वही
४. मोहनदास मेहता सम्पा० दलसुखभाई मालवणिया, तथा डा० मोहनलाल मेहता : जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ३, वाराणसी : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान १९६७, पृ० ७७.

ममता, विभुषणा, लेख , गणित, रूप, लक्षण, मानदण्ड, प्रातेनपोत, व्यवहार, नीति, युद्ध, इषुशास्त्र, उपासना, चिकित्सा, अर्थ-शास्त्र, बंध, घात, ताड़न, यक्ष, उत्सव, समवाय, मंगल, कौतुक, वस्त्र, गंध, माल्य, अलंकार, चूला, उपनयन, विवाह पद्धति, मृतपूजना, ध्यापना, स्तूप, शब्द, खेलापन, पृच्छना, इन चालीस विषयों की ओर संकेत किया गया है। इनके निर्माता एवं प्रवर्तक के रूप में ऋषभदेव का ही नाम आता है।[1]

ऋषभदेव का वर्णन करते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि "बाहुबलि ने भगवान ऋषभदेव की स्मृति में धर्मचक्र की स्थापना की।[2] जिस दिन ऋषभदेव को केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई उसी दिन भरत की आयुधशाला में चक्ररत्न की प्राप्ति हुई थी। भरत को यह दोनों ही समाचार एक साथ प्राप्त हुये। भरत मन में विचार करने लगे कि पहले कहाँ जाना चाहिए। अंत में पिता की उपकारिता को दृष्टि में रखते हुए पहले वे भगवान ऋषभदेव के पास आये और उनकी पूजा की। इस अवसर पर उनके माता, पुत्र, पुत्री, पौत्रादि सभी दर्शनार्थ पहुंचे।

नियुक्ति में ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत की दिग्विजय का विस्तार से वर्णन किया गया है। भरत ने अपने छोटे भाइयों को भी अधीनता स्वीकार करने को कहा। लेकिन उन्होंने भगवान ऋषभदेव के पास जाकर अपनी यह समस्या रखी। भगवान ने उन्हें उपदेश दिया जिसे सुनकर बाहुबलि के अलावा सभी भाइयों ने भगवान के पास दीक्षा अंगीकार कर ली। बाहुबलि ने भरत को युद्ध के लिए आह्वान किया। सेना की सहायता न लेते हुए दोनों ने अकेले ही आपस में लड़ना स्वीकार किया। अंत में बाहुबलि की विजय हुई। लेकिन बाहुबलि को उस अधर्म-युद्ध से वैराग्य उत्पन्न हो गया और उन्होंने भी दीक्षा ले ली।[3]

---

१. मोहनदास मेहता सम्पा० दलसुखभाई मालवणिया, तथा डा० मोहनलाल मेहता : **जैन साहित्य का बृहद् इतिहास**, भाग ३, बाराणसी : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान १६६७, पृ० ७७.

२. वही पृ० ७८.

३. **जैन साहित्य का बृहद् इतिहास**, भाग ३, पृ० ७८.

५. आवश्यक चूर्णी :

जिनदासगणिमहत्तर का नाम चूर्णीकार के रूप में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनके द्वारा ८ चूर्णियों की रचना हुई है। आगमों की प्राचीनतम पद्यात्मक व्याख्या निर्युक्तियों और भाष्यों के रूप में प्रसिद्ध है। वे सब प्राकृत में हैं। जैन आगमों पर प्राकृत अथवा संस्कृत मिश्रित प्राकृत गद्य में जो व्याख्याएँ लिखी गई हैं, वे चूर्णियों के रूप में प्रसिद्ध हैं। आठ चूर्णियों में आवश्यक चूर्णा का चौथा नम्बर आता है। इसकी रचना समय छठी शताब्दी माना जाता है।

आवश्यक चूर्णी में भगवान महावीर के पूर्व भवों की चर्चा करते हुए ऋषभदेव के धनसार्थवाह आदि भवों का वर्णन किया गया है। ऋषभदेव के जन्म, विवाह, तत्कालीन शिल्प कर्म, लेख आदि पर भी समुचित प्रकाश डाला गया है। भरत की दिग्विजय का वर्णन बहुत ही अच्छे ढंग से किया है। युद्ध कला का एक बहुत ही अच्छा दृश्य सामने प्रदर्शित किया है। भरत का राज्याभिषेक, भरत और बाहुबलि युद्ध का विस्तार से वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त चक्रवर्ती, वासुदेव आदि का भी वर्णन प्रशिक्षण किया गया है।[1]

६. पद्मचरित या पद्मपुराण :

इस कृति के रचयिता रविषेण हैं। इसकी रचना महावीर निर्माण के १२०३ वर्ष ६ माह बीत जाने पर हुई थी। इस सूचना से इसकी रचना वि०स० ७३४ या सन् ६७६ ई. में हुई थी।[2] इसमें १२३ पर्व हैं, जिनमें अनुष्टुप मान से १८०२३ श्लोक हैं।[3] संस्कृत जैन कथा-साहित्य में यह सबसे प्राचीन ग्रंथ है।

इस चरित्र की कथा-वस्तु में आठवें बलभद्र पद्म (राम) आठवें नारायण लक्ष्मण, प्रतिनारायण रावण तथा उसके परिवारों और सम्बन्धित वंशों का चरित्र वर्णन है।

---

१. **जैन साहित्य का बृहद् इतिहास**, भाग ३, पृ० २९९.

२. **जैन साहित्य का बृहद् इतिहास**, भाग ६, पृ० ४१.

३. **वही** पृ० ४०.

जैन साहित्य में रामकथा के दो रूप पाये जाते हैं। एक तो विमलसूरी के पद्मचरिय में, प्रस्तुत पद्मपुराण या पद्मचरित्र में और हेमचन्द्र कृत त्रिषष्टिश्लाका पुरुष चरित्र में तथा दूसरा गुणभद्र, पुष्पदंतकृत महापुराण एवं कला चामुण्डराय पुराण में पहला रूप अधिकांश वाल्मीकि रामायण के ढंग का है जबकि दूसरा रूप विष्णुपुराण तथा बौद्धदशरथ-जातक से मिलता है।[1]

७. हरिवंश पुराण :

(हरिवंश पुराण) महाकाव्य की शैली पर रचा गया यह ब्राह्मण पुराणों के अनुकरण का एक पुराण है। इस ग्रंथ का मुख्य विषय हरिवंश में उत्पन्न हुए २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ का चरित्र वर्णन करना है। इस ग्रन्थ में ६६ सर्ग हैं, जिनका कुल मिलाकर १२ हज़ार श्लोक प्रमाण आकार है।[2] इस ग्रंथ के अंत में ६६वें सर्ग में एक महत्त्वपूर्ण प्रशस्ति दी गई है जिससे ज्ञात होता है कि इसके रचयिता पुन्नाटसंघीय जिनसेन थे। इससे स्पष्ट होता है कि ये महापुराण (आदिपुराण) के रचयिता मूलसंघीय सेनान्वयी जिनसेन से भिन्न थे। इनके गुरु का नाम कीर्तिण और दादागुरु का नाम जिनसेन था जबकि दूसरे जिनसेन के गुरु का नाम वींरसेन और दादागुरु का नाम आर्यनन्दि था। जिनसेन ने इस ग्रंथ की रचना शक सं. ७०५ (सन् ७८३) अर्थात् विक्रम संवत् ८४० में की थी।[3]

इस ग्रंथ में नेमिनाथ का ही चरित्र-चित्रण नहीं है, वल्कि उसे मध्यबिन्दु वनाकर इसमें इतिहास, भूगोल, राजनीति, धर्मनीति आदि अनेक विषयों तथा अनेक उपाख्यानों का वर्णन हुआ है। लोक संस्थान के रूप में सृष्टि-वर्णन चार सर्गों में दिया गया है। राज्यवंशोत्पत्ति और हरिवंशावतार नामक अधिकारों के उपलक्षण में चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नव नारायण आदि तिरेसठ शलाका पुरुषों का और सैकड़ों अवान्तर राजाओं और विद्याधरों के चरित्रों का वर्णन किया गया है। इस तरह यह अपने में एक महापुराण को भी अन्तर्गभित किये हुए है।

---

१. **जैन साहित्य का बृहद् इतिहास**, भाग ६, पृ० ४१.
२. वही-पृ० ४३.
३. **जैन साहित्य का बृहद् इतिहास**, भाग ६, पृ० ४६.

८. आदिपुराण (महापुराण) :

महापुराण जिनसेन और गुणभद्र कृत उस विशाल ग्रंथ का नाम है जो ७६ वर्षों में विभक्त है। ४७ वर्ष तक की रचना का नाम आदि पुराण, ४८ से ७६ तक की रचना का नाम उत्तर पुराण है। इसमें कुल मिलाकर १९२०७ श्लोक हैं। उनमें से आदि पुराण में ११४२९ श्लोक हैं और उत्तर पुराण में ७७७८.[1] आदि पुराण की रचना ९वीं शताब्दी में हुई थी।

जिनसेन ने अपने इस ग्रंथ में तिरेसठ शलाका पुरुषों के चरित्रों को ब्रहत्प्रमाण में लिखने की प्रतिज्ञा की थी लेकिन अत्यन्त वृद्धावस्था के कारण वे केवल आदि पुराण के ४२ पर्व तथा ४३वें पर्व के तीन पद्य अर्थात् १०३८० श्लोक प्रमाण लिखकर स्वर्गवासी हो गये। इसके उपरान्त इसके प्रमुख शिष्य "गुणभद्र" ने शेष कृति को अपेक्षाकृत संक्षेप में पूर्ण किया।

आदि पुराण में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के दश पूर्व भवों का वर्णन, वर्तमान मत का तथा भरत चक्रवर्ती के चरित्र का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसके अन्तर्गत प्रथम राजा ऋषभदेव के राज्याभिषेक का वहुत ही विस्तार से वर्णन किया गया है कि किस प्रकार इन्द्र ने आकर भगवान का राज्याभिषेक किया था। प्रजा की दण्डनीय स्थिति का भी वर्णन किया गया है। आदिपुराण के सोलहवें वर्ष में भरतादि सन्तानोत्पत्ति, प्रजा के लिए असि, मसि, कृषि, वाणिज्य सेवा और शिल्प इन छः आजीविकाओं का प्रतिपालन तथ। क्षत्रिय, वैश्य, शुद्ध इन तीन वर्णों की स्थापना का वर्णन है। छब्बीस से लेकर अड़तीसवें तक १३ पर्वों में भरत चक्रवर्ती की चक्ररत्न-प्राप्ति से लेकर दिग्विजय तथा नगर प्रवेश से पूर्व भरत बाहुबलि युद्ध तथा भरत द्वारा ब्राह्मण वर्ग की स्थापना का वर्णन किया गया है।[2] आदि पुराण के विस्तृत कलेवर में हम पुराण, महाकाव्य, धर्मकथा, राजनीति-शास्त्र, आचार-शास्त्र और युग की आदि व्याख्या को सूचित करने वाले एक बृहद इतिहास के दर्शन करते हैं।[3]

---

१. वही पृ० ५५.

२. **जैन साहित्य का बृहद् इतिहास**, भाग ६, पृ० ५६.

३. वही पृ० ५७.

१०. उत्तरपुराण :—

उत्तर पुराण महापुराण का पूरक भाग है। इसकी रचना जिनसेन के शिष्य गुणभद्र द्वारा हुई है। रचना काल १० वीं शताब्दी बताया गया है। इसमें अजितनाथ भगवान से लेकर २३ तीर्थंकरों, सगर से लेकर ११ चक्रवर्तियों, ९ बलदेव ९ नारायणों और ९ प्रतिनारायणों तथा उनके काल में होने वाले जीवनधर आदि विशिष्ट पुरुषों के कथनाक दिये गये हैं। ग्रंथ के अन्त में ४३ पद्यों की विविध छंदों में निर्मित एक प्रशस्ति दी गई है जिसमें दो भाग हैं। प्रथम भाग १-२७ तक के लेखक गुणभद्र हैं तथा दूसरे भाग के लेखक उनके शिष्य लोकसेन हैं।[1]

११. चउप्पन्न महापुरिस चरिय :—

इस ग्रंथ में ५४ महापुरुषों का वर्णन किया गया है। इसकी रचना शीलाचार्य ने की है। ग्रंथ का रचना-काल विक्रम सं. ९२५ माना गया है।[2] इस ग्रंथ मे ९ प्रतिवासुदेवों को छोड़कर शेष ५४ को ही उत्तम पुरुष कहा गया है। चरित्र प्रतिपादन की दृष्टि से देखा जाये तो इसमें ५१ महापुरुषों का ही वर्णन है, क्योंकि शन्ति, कुन्थु और अरनाथ ये तीन नाम तीर्थंकर और चक्रवर्ती दोनों में समान्य हैं। महापुरुषों के समुदित चरित्र को प्राकृत भाषा में वर्णन करने वाले उपलब्ध ग्रन्थों में इस ग्रंथ का सर्वप्रथम स्थान है। इस ग्रंथ का श्लोक प्रमाण १०८०० है।[3]

१२. त्रिषष्टि श्लाका पुरुष चरित :—

इस महान ग्रंथ में जैनों के कथानक, इतिहास, पौराणिक कथाएँ, सिद्धान्त एवं तत्त्वज्ञान का संग्रह है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ १० पर्वों में विभक्त है। प्रत्येक पर्व अनेक सर्गों में विभक्त है। इस ग्रन्थ की आकृति ३६००० श्लोक प्रमाण है।[4] महासागर तुल्य इस विशाल ग्रंथ की रचना १२ वीं शताब्दी में हेमचन्द्राचार्य ने अपनी उत्तरावस्था में की थी।

---

१. **जैन साहित्य का बृहद् इतिहास**, भाग ६, पृ० ६१.

२. वही पृ० ७०.

३. वही पृ० ६८.

४. **जैन साहित्य का बृहद् इतिहास**, भाग ६, पृ० ७०.

तिरेसठ शलाका पुरुषों का चरित्र १० पर्वों में इस प्रकार समाविष्ट है :-

(१) प्रथम पर्व में आदीश्वर प्रभु और भरत चक्रवर्ती ।

(२) दूसरे पर्व में अजितनाथ और सगर चक्रवर्ती ।

(३) तीसरे पर्व में सम्भवनाथ से लेकर शीतलनाथ तक आठ तीर्थंकरों का चरित्र ।

(४) चौथे पर्व में श्रेयांस से लेकर धर्मनाथ तक पाँच तीर्थंकर, पाँच वासुदेव, पाँच प्रतिवासुदेव और पाँच बलदेव तथा दो चक्रवर्ती मधवा और सनत्कुमार इस प्रकार सब मिलाकर २२ महापुरुषों का चरित्र चित्रण निहित है ।

(५) पाँचवें पर्व में शान्तिनाथ का चरित्र । शान्तिनाथ भगवान एक ही भव में तीर्थंकर और चक्रवर्ती दोनों थे । इनके दो चरित्र गिनने में आते हैं ।

(६) छठे पर्व में कुन्थुनाथ से मुनिसुव्रत तक के चार तीर्थंकर, चार चक्रवर्ती, दो वासुदेव, दो बलदेव तथा दो प्रतिवासुदेव इन चौदह महापुरुषों का चरित्र । उनमें से कुन्थुनाथ और अरानाथ उसी भव में चक्रवर्ती भी हुए इनकी भी दो चरित्रों में गिनती होती है ।

(७) सातवें पर्व में नेमिनाथ, १० वें और ११ वें चक्रवर्ती हरिषेण और जया तथा आठवें बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव, राम, लक्ष्मण तथा रावण को मिलाकर ६ महापुरुषों के चरित्र ।

(८) आठवें पर्व में नेमिनाथ तीर्थंकर तथा नवम् वासुदेव, बलदेव और प्रतिवासुदेव, कृष्ण, बलभद्र और जरासंध को मिलाकर चार पुरुषों के चरित्र ।

(९) नवें पर्व में पार्श्वनाथ तीर्थंकर और ब्रह्मदत्त नामक बारहवें चक्रवर्ती का चरित्र निहित है ।

(१०) दसवें पर्व में भगवान महावीर का जीवन-चरित्र है। अन्य पर्वों की अपेक्षा यह पर्व बहुत बड़ा है। पूरे पर्व में १३ सर्ग हैं। इस पर्व में श्रेणिक, कोणिक, सुलता, अभयकुमार, चेटक राजा, हल्लविहल्ल, मेघकुमार, नन्दिषेण, चेलना, दुर्गन्धा, आर्द्रकुमार, ऋषभदत्त, देवानंदा, जमालि, शतानीक, चण्डप्रद्योत, मृगावती, यासासासा, आनंद आदि दस श्रावक, गोशाला, हालीक, प्रसन्नचन्द्र, दुदर्दराइ-कदेव, गौतमस्वामी, पुण्डरीक, कंडरीक, अम्बड, दशार्णभद्र, धन्ना-शालिभद्र, रौहिणेय, उदायन, शतानीक पुत्र, अन्तिम राजर्षि उदायन, प्रभावती, कपिल केवली, कुमारनन्दि, सोनी, कुलवालुक और कुमारपाल राजा आदि के चरित्र का बहुत अच्छे ढंग से वर्णन किया गया है।

दसवें पर्व के १२वें सर्ग में कुमारपाल के चरित्र का उल्लेख किया गया है। (उसमें पाटन का), कुमारपाल के राज्य-विस्तार का, जिन प्रतिमा के प्रसाद का वर्णन आया है।[1]

उपर्युक्त पुराणों को ही मैंने अपने विषय का आधार बनाया है। वैसे तो जैन पुराणों की संख्या बहुत है। परमानंदजी ने उन जैन पुराणों की सूची दी है, जो अभी तक प्रकाश में आये हैं या जिनका उल्लेख पाया जाता है। कतिपय जैन पुराणों के नाम इस प्रकार हैं:—

जैन पुराण ग्रन्थ सूची

क्रम सं०	पुराण का नाम	कर्त्ता	भाषा	रचना सम्वत्
१.	पउम चरिय	विमलसूरि	प्राकृत	५वीं शती
२.	पद्म पुराण	आचार्य रविषेण	संस्कृत	७०५
३.	पउमचरिउ	स्वयंभू	अपभ्रंश	८वीं शती
४.	हरिवंश पुराण	पुन्नाट संघीय जिनसेन	संस्कृत	८४०

१. **जैन साहित्य का बृहद् इतिहास**, भाग 6, पृ० ७४.

क्रम सं०	पुराण का नाम	कर्त्ता	भाषा	रचना सम्वत्
५.	महापुराण (आदिपुराण)	जिनसेन	संस्कृत	९वीं शती
६.	महापुराण	पुष्पदंत	अपभ्रंश	९वीं शती
७.	चउप्पन्नमहापुरि चरियं	शीलाचार्य	प्राकृत	वि०सं०९२५
८.	महावीर पुराण	कवि असग	संस्कृत	९९६
९.	उत्तर पुराण	गुणभद्र	संस्कृत	१०वीं शती
१०.	शान्तिनाथ पुराण	कवि अलग	संस्कृत	१०वीं शती
११.	पार्श्व पुराण	पद्मकीर्ति	अपभ्रंश	वि०सं० १०५५
१२.	पुराण सार	श्रीचन्द्र	संस्कृत	१०८०
१३.	महापुराण	मल्लिषेण	संस्कृत	११०४
१४.	चामुण्डपुराण	चामुण्डराय	कन्नड	१११५
१५.	पुराण सार संग्रह	दामनन्दि		११-१२वीं शती
१६.	त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित	हेमचन्द्र	संस्कृत	१२वीं शती
१७.	अनन्तनाथ पुराण	श्री जिन्नाचार्य		वि०सं० १२०९
१८.	त्रिषष्ठि स्मृतिशास्त्र	आशाधर		१२९२
१९.	पाण्डव पुराण	भट्टारक यशकीर्ति	अपभ्रंश	१४९७
२०.	महावीर पुराण	भ० सकलकीर्ति	संस्कृत	१५वीं शती
२१.	मल्लिनाथ पुराण	भ० सकलकीर्ति	संस्कृत	१५वीं शती
२२.	आदि पुराण	भ० सकलकीर्ति	संस्कृत	१५वीं शती
२३.	उत्तर पुराण	भ० सकलकीर्ति	संस्कृत	१५वीं शती
२४.	पद्म पुराण	कवि रइधू	अपभ्रंश	१५वीं १६वीं शती
२५.	हरिवंश पुराण	कवि रइधू	अपभ्रंश	,, ,,

क्रम सं०	पुराण का नाम	कर्त्ता	भाषा	रचना सम्वत्
२६.	हरिवंश पुराण	ब्रह्मजिनदास	संस्कृत	१५वीं १६वीं सती
२७.	पद्मपुराण	,, ,,	,,	,,
२८.	हरिवंश पुराण	भट्टारक सकलकीर्ति	अपभ्रंश	१५२०
२९.	हरिवंश पुराण	यशः कीर्ति	अपभ्रंश	१५५२
३०.	हरिवंश पुराण	श्रुतकीर्ति	संस्कृत	१५५२
३१.	जयकुमार पुराण	ब्रह्म कामराज	संस्कृत	१५५५
३२.	हरिवंश पुराण	कवि रायचन्द्र	संस्कृत	वि. सं. १५६० से पूर्व
३३.	नेमिनाथ पुराण	ब्रह्म नेमिदत्त	संस्कृत	१५७५ के लगभग
३४.	पद्मपुराण	ब्रह्म जिनदास	संस्कृत	१६ वीं शती
३५.	पाण्डव पुराण	भट्टारक शुभचंद्र	संस्कृत	वि. सं. १६०८
३६.	पार्श्व पुराण	भ. चन्द्रकीर्ति	संस्कृत	वि. सं. १६५४
३७.	पद्म पुराण	भ. धर्मकीर्ति	संस्कृत	१६५६
३८.	पाण्डव पुराण	श्री भूषण	संस्कृत	१६५७
३९.	पार्श्व पुराण	वादि चन्द्र	संस्कृत	१६५८
४०.	पाण्डव पुराण	वादि चन्द्र	संस्कृत	१६५८
४१.	शान्तिनाथ पुराण	श्री भूषण	संस्कृत	१६५९
४२.	हरिवंश पुराण	धर्मकीर्ति	संस्कृत	१६७१
४३.	कर्णामृत पुराण	केशवसेन	संस्कृत	१६८८
४४.	पद्म पुराण	भट्टारक चन्द्रकीर्ति	संस्कृत	१७ वीं शती
४५.	आदि पुराण	भ. चन्द्रकीर्ति	संस्कृत	,, ,,
४६.	पद्मनाभि पुराण	भ. शुभचन्द्र	संस्कृत	१७ वीं शती

क्रम सं०	पुराण का नाम	कर्त्ता	भाषा	रचनासम्वत्
४७.	अजित पुराण	अरुण मणि	संस्कृत	१९१६
४८.	हरिवंश पुराण	स्वयंभू	अपभ्रंश	—
४९.	आदि पुराण	कविपंप	कन्नड़	—
५०.	चन्द्रप्रभ पुराण	कवि अगासदेव	संस्कृत	—
५१.	मल्लिनाथ पुराण	कवि नामचन्द्र	कन्नड़	—
५२.	मुनि सुव्रत पुराण	ब्रह्मकृष्णदास	संस्कृत	—
५३.	मुनि सुव्रत पुराण	भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति	संस्कृत	—
५४.	वागर्थ पुराण	कवि परमेष्ठि	संस्कृत	—
५५.	श्री पुराण	भ. गुणभद्र	संस्कृत	—
५६.	हरिवंश पुराण	चतुर्मुख देव	संस्कृत	—
५७.	पद्म पुराण	भ. सोमसेन	संस्कृत	—
५८.	धर्मनाथ पुराण	कवि बाहुबलि	कन्नड़	—

आधार—

१. महापुराण
२. पी० सी० जैन : हरिवंश पुराण का सांस्कृतिक अध्ययन
   जयपुर : देव नागर प्रकाश १९८३.
३. जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन.

तृतीय अध्याय

"जैन पुराण साहित्य में राजनीति"

जैन पुराण साहित्य मूल रूप में शुद्ध राजनीतिक ग्रंथ नहीं है लेकिन फिर भी हम उसको राजनीति की कोटि में रख सकते हैं। जब हम प्राचीन आगम तथा पुराणों का अवलोकन करते हैं तो हमारे सम्मुख अनेक ऐसे आदर्श उपस्थित होते हैं जिनके आधार पर हम जैन मान्यतानुसार राजनीति का उद्भव कब और किस प्रकार हुआ तथा इससे पूर्व की क्या अवस्था थी आदि के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। इस अध्याय में हम जैन साहित्य में निहित राजनीतिक तत्त्वों का संक्षिप्त में विवेचन करेंगे। जैन राजनीतिक विचारकों की श्रेणी में 'जिनदासगणि महत्तर' 'रविषेण', "जिनसेन प्रथम", "जिनसेन द्वितीय", "गुणभद्र", "जटा सिंहनंदि", "धनंजय", "वादिमसिंह", "वीरनंदि", "असंग", "हेमचन्द्राचार्य", तथा "सोमदेव सूरि" का नाम उल्लेखनीय है।

जैन शास्त्रों तथा आगमों के अनुसार संसार अनादि अनंत है, अर्थात् न कभी इसका आदि है और न कभी अन्त। अनादि काल से ही सतत् गतिशील चलता आ रहा है। यह दृष्टिगोचर जगत परिवर्तनशील परिणामी नित्य है। मूल द्रव्य की अपेक्षा नित्य है और पर्याय की दृष्टि से परिवर्तनशील है। प्रत्येक जड़ चेतन का परिवर्तन नैसर्गिक ध्रुव एवं सहज स्वभाव है। जिस प्रकार दिन के पश्चात् रात्रि और रात्रि के पश्चात् दिन, प्रकाश के पश्चात् अंधकार, अंधकार के पश्चात् प्रकाश का प्रादुर्भाव होता है। जनवरी, फरवरी, मार्च, अप्रैल आदि बारह महीनों का एक के बाद दूसरे का आगमन, गमन, प्रतिगमन का यह चक्र अनादि काल से निरंतर चलता आ रहा है। उत्थान के बाद पतन, पतन के बाद उत्थान, इस प्रकार चराचर जगत् का अनादिकाल से अनवरत क्रम चला आ रहा

है। इस काल चक्र के बारह आरों (काल-विभागों) का जैनों द्वारा निर्देश किया गया है।

ढाई द्वीप[1]. के पाँच भरत और पाँच ऐरावत क्षेत्रों में समय की व्यवस्था करने के कारण रूप बारह आरों का एक काल-चक्र गिना जाता है। उसके दो कल्प होते हैं। (१) अवसर्पिणी काल और (२) दूसरा उत्सर्पिणी काल।[2] यह दोनों क्रमशः बदलते रहते हैं। शेष सभी क्षेत्रों में काल अपरिवर्तनीय रूप से सदा समान रहता है।

अपसर्पिणी काल का अपकर्ष निम्नलिखित छः भागों में विभक्त है।

(१) सुषमा-सुषम—(यह चार कोटाकोटि वर्ष प्रमाण वाला प्रथम आरा है।)
(२) सुषमा —(यह तीन कोटाकोटि सागरोपम वाला होता है।)
(३) सुषमा-दुषम—(यह दो कोटाकोटि सागरोपम वाला है।)
(४) दुषमा-सुषम—(यह बयालीस वर्ष न्यून एक कोटा-कोटि सागरोपम प्रमाण वाला आरा है।)
(५) दुषम —(यह इक्कीस हजार वर्ष वाला होता है।)
(६) दुषमा दुषम—(यह इक्कीस हजार वर्ष वाला आरा होता है।)[3]

---

१. **ढाई द्वीप** :—जैन मान्यतानुसार एक लाख योजन जम्बूद्वीप होता है उसके चारों तरफ चार लाख लवण समुद्र, लवण समुद्रके चारों तरफ आठ लाख धातकी खण्ड, धातकी खण्ड के चारों तरफ सोलह लाख योजन प्रमाण कालोदधि समुद्र और उसके चारों तरफ सोलह लाख योजन अर्द्ध पुष्कखरद्वीप होता है। इस प्रकार कुल मिलाकर पैंतालीस लाख योजन प्रमाण ढाई द्वीप होता है। इस द्वीप के अन्दर मनुष्यों की बस्ती होती हैं।

नोट—विशेष जानकारी के लिए देखिए—नवीनऋषि जी महाराजः जैन दृष्टि में मध्यलोक, बम्बई, मनसुखभाई देसाई पृ०२.

२. **तित्थोगालीपइण्णय** : पन्यास कल्याण विजय, जालोर : श्वेताम्बर (चारथुई) जैनसंघ १९७५, पृ० ३.

३. **नोट**—आरों के विषय में देखिए **जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति** : राय धनपतसिंह, वाराणायां, जैन प्रभाकर यन्त्रालये, वक्षस्कार २.

इसी प्रकार उत्सर्पिणी काल के क्रमिक विकास को भी छः भागों में विभक्त कर अवसर्पिणी काल के प्रतिलोम क्रम से (१) दुषमा-दुषम, (२) दुषमा, (३) दुषमा-सुषम, (४) सुषमा-दुषम (५) सुषमा (६) सुषमा-सुषम नाम से समझना चाहिए। इन आरों का समय भी उपर्युक्त भागों के अनुसार है।

अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी दोनों कालों को मिलाकर बीस कोड़ा कोड़ी सागरोपम का एक काल चक्र होता है।

अपकर्षोन्मुख अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे (सुषमा-दुषम) में पल्योपम का आठवाँ भाग अवशेष रहने पर "युगलियों" के रूप में कुलकरों की उत्पत्ति हुई। युगलियों अर्थात् एक लड़का और एक लड़की का साथ उत्पन्न होना। (लग्न संस्था उस समय बनी नहीं थी। लड़का और लड़की अन्य युगल को जन्म देकर मृत्यु को प्राप्त हो जाते थे।)

कुलकर व्यवस्था से पूर्व सामाजिक संगठन नहीं हुआ था। युगलिक व्यवस्था चल रही थी, उस समय न कुल था, न वर्ग और न जाति, समाज की बात तो बहुत दूर रही। जनसंख्या बहुत कम थी। माता-पिता की मौत के दो या तीन माह पहले एक युगल जन्म लेता था, वही दम्पति कहलाता था। विवाह संस्था का उदय नहीं हुआ था। जीवन की आवश्यकताएं सीमित थीं। उस समय न खेती थी, न कपड़ा बनता था, न मकान की आवश्यकता थी, उनके भोजन, वस्त्र और मकान की पूर्ति कल्पवृक्षों के द्वारा होती थी। उस समय मानव स्वभाव से शांत, शरीर से स्वस्थ एवं स्वतंत्र जीवन जीने वाला होता था। धर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं थी, उनमें भौतिक मर्यादाओं का अभाव था, केवल सहज स्वभाव से व्यवहार करते थे। वे किसी नर से या पशु सेन सेवा-सहयोग प्राप्त करते और न किसी को अपना सेवा-सहयोग अर्पित करते। दस प्रकार के कल्पवृक्षों[1]. द्वारा सहज प्राप्त फल-फूलों आदि से वह अपना जीवन-यापन करते थे। उनका जीवन रोग-शोक, वियोग रहित था। उस समय न कोई स्वामी था न कोई सेवक, शासक और शासित

---

१. तित्थोगाली पइण्णय पृ० १५.

भी नहीं थे, न कोई शोषक था न कोई शोषित । न चोरी थी, न असत्य अब्रह्मचर्य सीमित था, मारकाट और हत्याएँ नहीं होती थीं ।

अवसर्पिणीकाल का पहला आरा व्यतीत हुआ, पश्चात् दूसरा व्यतीत हुआ, तीसरा भी लगभग व्यतीत होने वाला था, कुछ समय अवशेष था, तब सहज समृद्धि का क्रमिक ह्रास होने लगा। भूमि का रस चीनी से भी जो ज्यादा मीठा था वह कम होने लगा। तीन, दो और एक दिन के बाद भोजन की परम्परा टूटने लगी, कल्पवृक्षों की शक्ति भी क्षीण होने लगी। ऐसी परिस्थिति के दौरान कुलकर व्यवस्था का उद्‌भव हुआ।

कुलकर व्यवस्था—

असंख्य वर्षों के पश्चात् नये युग का आरम्भ हुआ । संक्रान्ति काल चल रहा था। एक ओर तो आवश्यकता पूर्ति के साधन कम होने लगे, दूसरी तरफ जनसंख्या और जीवन की आवश्यकताएं बढ़ने लगीं। ऐसी परिस्थिति में संघर्ष और लूट-खसोट होने लगी। परिस्थिति ने मानव स्वभाव में परिवर्तन ला दिया। अपराधी मनोवृत्ति के बीज पनपने लगे। अपराध और अव्यवस्था ने उन्हें एक नई व्यवस्था के निर्माण की प्रेरणा दी। जिसके फलस्वरूप "कुल" व्यवस्था का विकास हुआ। लोग कुल के रूप में संगठित होकर रहने लगे। उन कुलों का एक मुखिया होता था जो कि कुलकर कहलाता था। यह सर्वसत्ताधीश होता था। जैन मान्यतानुसार राजपद से पूर्व सम्पूर्ण भारतवर्ष में कुलकर व्यवस्था थी। इनका कार्य कुल की रक्षा करना, तथा नीति-नियम बनाना था। उस समय में युद्ध आदि प्रचलित नहीं हुआ था।

कुलकरों के विषय में जैनागम, पुराण शास्त्रों के मत

जैनागम :

स्थानांग, समवायांग और भगवती सूत्रमें सात कुलकरों का उल्लेख

नोट—कुलकरों के विषय में विशेष जानकारी के लिए जैन प्राचीन ग्रंथ (श्रीयति वृषभाचार्य विरचित : **तिलोय पण्णती** भाग १ शोलापुर, जैन संरक्षक संघ, १९३६) के चतुर्थ महाधिकारी की ४२१ से ५०६ तक की गाथाएँ देखिए।

है। आवश्यक नियुक्ति, एवं आवश्यक चूर्णी में भी सात कुलकर मान्य किये गये हैं। इस मान्यतानुसार सात कुलकरों के नाम निम्न हैं —

(१) विमलवाहन (२) चक्षुष्मान् (३) यशोमान् (४) अभिचन्द्र (५) प्रसेनजित् (६) मरुदेव (७) नाभि।

जिनसेन विरचित महापुराण में चौदह और जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में कुल १५ कुलकरों का उल्लेख है। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के अनुसार कुलकरों के नाम निम्नलिखित हैं :—

(१) सुमति (२) प्रतिश्रुति (३) सीमंधर (४) सीभंधर (५) क्षेमंकर (६) क्षेमंधर (७) विमलवाहन (८) चक्षुष्मान् (९) यशस्वी (१०) अभिचन्द्र (११) चंद्राभ (१२) प्रसेनजित (१३) मरुदेव (१४) नाभि (१५) ऋषभ।

जैन साहित्य की तरह वैदिक साहित्य में भी इस प्रकार कुलकरों का वर्णन आता है। वहाँ कुलकरों के स्थान पर प्रायः मनु शब्द का प्रयोग हुआ है। मनुस्मृति में, स्थानांग सूत्र के सात कुलकरों की तरह सात महातेजस्वी मनु इस प्रकार बताये हैं।[1]—

(१) स्वयम्भू (२) स्वरोचिष् (३) उत्तम (४) तामस (५) रैवत (६) चाक्षुष (७) (वैवस्वत)।

मत्स्य पुराण में, मार्कण्डेय पुराण, देवी भागवत, और विष्णु पुराण में स्वयम्भू आदि चौदह मनु बताये गये हैं—

(१) स्वायंभुव (२) स्वारोचिष (३) औत्तमि (४) तामस (५) रैवत (६) चाक्षुष (७) वैवस्वत (८) सावर्णि (९) रौच्य (१०) भौत्य (११) मेरु सावर्णि (१२) ऋभु (१३) ऋतुधामा (१४) विश्वक्सेन।

---

१. मनु अ०/१/६१-६२-६३.

नोट :—मनुओं के विस्तृत परिचय के लिए मत्स्य पुराण के ९ वें अध्याय से २१ वें अध्याय तक देखें। **मत्स्य पुराण**: कृष्णद्वैपायन विरचित, कलकत्ता : गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, १९५४.

वैवस्वत के बाद मार्कण्डेय पुराण में ५ सावर्णि, तथा रौच्च और भौत्य ये सात मनु माने गये हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त चौदह मनुओं के नाम बतलाये गये हैं।

जैन मतानुसार सात या चौदह कुलकरों का उल्लेख हुआ है। जिनमें से विमलवाहन नाम के कुलकर को दोनों मान्यताओं ने स्वीकार किया है। समवायांग, स्थानांग, भगवती सूत्र, आवश्यक निर्युक्ति, आवश्यकचूर्णी के अनुसार प्रथम कुलकर विमलवाहन हुए हैं। चौदह कुलकरों की श्रेणी में विमलवाहन का सातवाँ नम्बर आता है। विमल-वाहन कुलकर का वर्णन इस प्रकार आता है कि किसी समय वन प्रदेश में घूमते हुए एक मानव-युगल को किसी श्वेत वर्ण के हाथी ने देखा, देखकर उसे अपने पूर्वजन्म का स्मरण हुआ, और स्नेहवश उसे अपनी पीठ पर बिठा लिया। लोगों ने जब इस आश्चर्यचकित घटना को देखा तो वह कहने लगे कि "यह गजारूढ व्यक्ति हम सभी में श्रेष्ठ है। इसलिए इसे अपना नेता स्वीकार कर लिया जाये। उज्जवल वाहन होने के कारण लोग उसे विमलवाहन कहने लगे। इससे पता चलता है कि उस समय कुलकरों का वाहन हाथी था। विमलवाहन ने सबके लिए मर्यादा निश्चित की और मर्यादा का उल्लंघन करने वालों के लिए दण्ड व्यवस्था बनाई।[1]

उपर्युक्त कुलकरों के समय तीन प्रकार की दण्डनीति प्रचलित थीं। (१) हक्कार (२) मक्कार (३) धिक्कार।[2]

(१) "**हक्कार दण्डनीति**" : जब कोई व्यक्ति मर्यादा का उल्लंघन करता तब "हा" तूने क्या किया, ऐसा कहना ही अपराधी के लिए दण्ड था। उस समय का लज्जाशील और स्वभाव से संकोचशील प्रकृति वाला मानव इसी दण्ड को कठोर दण्ड मानता था। एक बार दण्डित होने पर पुनः गल्ती नहीं करता था। इस प्रकार बहुत समय तक हक्कार दण्डनीति

---

१. **आवश्यक निर्युक्ति** : भद्रबाहु, सूरत, जैन ग्रंथमाला गोरीपुरा, गाथा १५४, पृ० ५०.

२. वही गा० १६७, पृ० ५१.

की व्यवस्था चलती रही। सात कुलकरों में से प्रथम दो तथा पन्द्रह कुलकरों में से प्रथम पाँच कुलकरों की यह नीति थी।

(२) "**मक्कार दण्डनीति**' :—जब लोग "हा" करने से नहीं मानने लगे और अपराध करते ही रहे तब उच्चस्वर में "मा" यानि "मत करो" कहकर अपराधी को दण्ड दिया जाता था। मानव स्वभाव में पूर्व की अपेक्षा परिवर्तन आ गया था। तीसरे, चौथे कुलकर तथा छठे से दसवें कुलकर तक यह दण्डनीति प्रचलित थी।

(३) "**धिक्कार दण्डनीति**" :—जब मानव "हा" और "मा" नीति का भी उल्लंघन करने लगे तब "धिक्कार" नीति का आविर्भाव हुआ। इस समय मानव बहुत चालाक और शैतान हो गया था। पिछले तीन तथा ग्यारहवें से चौदहवें कुलकरों तक यह नीति चलती रही।

जैन आगमों में वैसे सात प्रकार की दण्डनीतियों का उल्लेख मिलता है। १४ कुलकरों और सात कुलकरों के समय तीन दण्डनीतियाँ ही प्रचलित थीं। बाकी चार दण्डनीतियाँ ऋषभ स्वामी और भरत चक्रवर्ती के समय प्रचलित हुई थीं।

अन्तिम कुलकर नाभि के समय में प्रारम्भ हुई "धिक्कार" दण्ड-का जब उल्लंघन होने लगा, तथा युगलिकों को कल्पवृक्षों से प्रकृति सिद्ध भोजन प्राप्त होता था, वह अपर्याप्त हो गया तब युगलिक लोग घबराकर ऋषभ-स्वामी के पास आये। जैन परम्परानुसार ऋषभ स्वामी अन्तिम कुलकर नाभि की पत्नी मरुदेवी की कुक्षि से उत्पन्न हुए थे। जैन परम्परा की तरह वैदिक परम्परा के साहित्य में भी ऋषभदेव का विस्तृत परिचय उपलब्ध है। जैनेत्तर पुराणों में ऋषभ का वर्णन इस प्रकार मिलता है।

ब्रह्मा जी ने अपने से उत्पन्न अपने ही स्वरूप-तुल्य को प्रथम मनु बनाया। फिर स्वायंभवु मनु को प्रियव्रत से आग्नीध्र आदि दस पुत्र उत्पन्न हुए। आग्नीध्र से नाभि और नाभि से ऋषभ हुए।[1] श्रीमद्

---

१. **श्री विष्णु पुराण** : अनुवाद श्री मुनिलाल गुप्ता, गोरखपुर गीता प्रेस, अंश २, अ० १, श्लोक ७/१६/२७.
"भगवान परमर्षिभि:"

भागवत् में ऋषभदेव को यज्ञपुरुष विष्णु का अंशावतार माना गया है। उसके अनुसार भगवान नाभि का प्रेम-सम्पादन करने के लिए महारानी मरुदेवी के गर्भ से दिगम्बर सन्यासी वातरशना-श्रमणों के धर्म को प्रकट करने के लिए शुद्ध सत्यमय विग्रह से प्रकट हुए। यथा :—

"भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मरुदेव्यां, धर्मान्दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमण नामृषीणामूर्ध्वं मन्थिनां शुक्लयां तन्वावततार।"[1]

राज्याभिषेक :

अन्तिम कुलकर नाभि के समय प्रचलित "धिक्कार दण्डनीति" जब प्रभावहीन सिद्ध हुई तब युगलिक लोग ऋषभ स्वामी के पास पहुंचे और उन्हें अपनी वस्तुस्थिति का परिचय कराते हुए सहयोग की याचना करने लगे।[2] तब ऋषभस्वामी ने कहा कि प्रजा में अपराधी मनोवृत्ति न पनपे तथा मर्यादा का यथोचित पालन हो सके इसके लिए दण्डव्यवस्था होती है, जिसका संचालन स्वयं राजा करता है और वही समय-समय पर दण्डनीति में सुधार कर सकता है। लेकिन राजा का पहले राजपद पर अभिषेक किया जाता है।

यह सुनकर "युगलियों" ने कहा कि महाराज आप ही हमारे राजा बन जाइये। इस पर ऋषभस्वामी ने कहा कि आप इस विषय के लिए नाभि कुलकर के पास जाकर निवेदन करो, वही आपको राजा देंगे। यह सुनकर युगलियों ने नाभि कुलकर के पास जाकर निवेदन किया। नाभि ने उनकी विनम्र प्रार्थना सुनकर कहा – मैं तो अब वृद्ध हो गया हूं, अतः तुम ऋषभ को ही राज्यपद देकर राजा बना लो।

(इस पंक्ति से विदित होता है कि उस समय जवान (वयस्क) ही राजा होता था।)[3]

---

१. **श्रीमद्भागवत् : वेदव्यास, गोरखपुर, गीता प्रेस १९५३, ५/३/२०.**

२. **आवश्यक निर्युक्ति गा० १९७, पृ० ५५.**

३. **वही गा० १९८, पृ० ५५.**

नाभि कुलकर की आज्ञा प्राप्त कर युगलिक-जन पद्म सरोवर पर गये और कमल के पत्तों में जल लेकर आए। इसी बीच इन्द्र का आसन चलायमान हुआ, इन्द्र ने अवधिज्ञान से देखा और सर्व ऋद्धि के साथ सभी लोकपालों के साथ वहाँ आया। इन्द्र ने सविधि सम्मानपूर्वक देवगण के साथ ऋषभदेव का राज्याभिषेक किया और उन्हें राजायोग्य आभूषणों से विभूषित किया।[1]

जब युगलिक लोग आए और उन्होंने देखा कि भगवान का अभिषेक तो हो गया, क्योंकि उन्होंने भगवान को सर्व अलंकारो से विभूषित देखा। परितोष से जिनके मुख विकसित हुए, उन्होंने जाना कि हम अलंकारों से विभूषित राजा के ऊपर कैसे जल डालें, इसलिए पैरों पर ही पानी डाल दिया, जिससे कि अलंकार खराब न हों। यह देख इन्द्र विचार करने लगा कि यह लोग तो वहुत विनीत हैं इसलिए विनीता नाम की नगरी बसाई। इस नगरी का दूसरा नाम अयोध्या भी कहा जाता है।[2]

इस प्रकार ऋषभदेव उस समय के प्रथम राजा घोषित हुए। ऋषभदेव प्रथम राजा, प्रथम जिन, प्रथम केवली, प्रथम तीर्थंकर, नीति के प्रथम प्रकाशक कहे जाते थे। ऋषभ स्वामी ने पूर्व से चली आ रही कुलकर व्यवस्था का अंत करके नूतन राज्य-व्यवस्था का निर्माण किया था।

शासन व्यवस्था :

(१) राज्यपद पर आरूढ़ होने के पश्चात् सर्व प्रथम ऋषभदेव ने राज्य की सुव्यवस्था और विकास के लिए प्रथम आरक्षक दल की स्थापना की। उसके अधिकार "उग्र" कहलाये।

(२) राजकीय व्यवस्था में परामर्श के लिए एक मंत्रिमण्डल का निर्माण किया, जिसके अधिकारी "भोग" कहलाये।

(३) परामर्श-मण्डल की स्थापना की गई, जो सम्राट के सन्निकट रहकर उन्हें समय-समय पर परामर्श (सलाह) देते रहते।

---

१. आ० नि० गा० १६६, पृ० ५६.

२. वही गा० २००, पृ० ५६.

(४) सामान्य कर्मचारी जिनको क्षत्रिय नाम से सम्बोधित किया गया।[1]

इसके अलावा ऋषणदेव ने चार प्रकार की सेना और सेनापतियों की व्यवस्था की जिससे कि राज्य की रक्षा तथा दुष्टों को दण्डित किया जा सके। अपराधी की खोज एवं अपराध निषेध के लिए "साम-दाम-दण्ड-भेद" नीतियाँ चलाई।

ऋषभ स्वामी ने चार प्रकार की दण्ड-व्यवस्था का नियोजन किया था :—

१. परिभाषण :– अपराधी को आक्रोशपूर्ण शब्दों से दण्डित करना।
२. मण्डलीबंध :—अपराधी को कुछ समय के लिए स्थानबद्ध कर देना।
३. चारकबंध :—बन्दीगृह (जेल) में अपराधी को बंद रखना।
४. छविच्छेद : –अपराधी के हाथ, पैर, नाक, कान आदि उपांगों का छेदन करना।[2].

उपर्युक्त चार दण्डनीतियों के विषय में कुछ आचार्यों में मतभेद है। कुछ आचार्यों का मत यह है कि अंतिम दो नीतियाँ (चारकबंध और छविच्छेद) भरत के समय में प्रचलित हुई थीं। भरत तक सात द्रण्डनीतियां प्रचलित थीं। परन्तु भद्रबाहु के मतानुसार चारक बंध और छविच्छेद नीति ऋषभदेव के समय में ही प्रचलित हो गई थी।

लोक व्यवस्था :—

ऋषभस्वामी ने मानव-जीवन को सुखी एवं स्वावलम्बी बनाने के लिए तथा अपना जीवन स्वयं सरलता से बिता सकें इसके लिए उन्होंने सौ शिल्प और असि, मसि, कृषि रूप तीन कर्मों का प्रजा को उपदेश दिया। शिल्प कर्म का उपदेश देते हुए प्रथम कुंभकार का कर्म सिखाया वस्त्र, वृक्षों के न होने पर पटकार कर्म और गेहागार-वृक्षों के अभाव में वर्धकी कर्म सिखाया। चित्रकार कर्म, रोम-नखों के बढ़ने पर काश्यप

---

१. आ० निर्युक्ति गा० २०२, पृ० ५६.

२. आ० निर्युक्ति, पृ० ५८.

अर्थात् नापित कर्म सिखाया। इन पाँच मूल शिल्पों के बीस-बीस भेदों से १०० प्रकार के कर्म उत्पन्न हुए।[1] इसके अतिरिक्त व्यवहार की दृष्टि से मान, उन्मान, अपमान, तथा प्रतिमान का भी ज्ञान कराया।[2]

ऋषभ स्वामी ने कला-विज्ञान की भी शुरूआत की। अपनी पुत्री ब्राह्मी को दाहिने हाथ से अठारह प्रकार की लिपियों का ज्ञान कराया। सुन्दरी को बायें हाथ से गणित की शिक्षा दी।[3] ज्येष्ठ पुत्र भरत को ७२ कलाओं का तथा बाहुबलि को प्राणी लक्षण का ज्ञान कराया।[4] अपनी पुत्री ब्राह्मी के माध्यम से स्त्रियों की ६४ कलाएँ भी सिखलाई।

भगवान आदिनाथ से पूर्व भारतवर्ष में वर्ण-व्यवस्था नहीं थी, क्योंकि उस समय सब लोगों की एक ही जाति थी। ऊँच-नीच का कोई भेदभाव नहीं था। सभी लोग कल्पवृक्षों द्वारा प्राप्त सामग्री से सन्तोष-पूर्वक जीवनयापन करते थे। जब लोगों में विषमता बढ़ी और लोभ, मोह का संचार हुआ तब भगवान ऋषभदेव ने वर्ण-व्यवस्था का सूत्रपात किया।

जो लोग शारीरिक दृष्टि से सुदृढ़ और शक्तिशाली थे, उन्हें प्रजा की रक्षा के कार्य में नियुक्त कर पहचान के लिए "क्षत्रिय" शब्द की संज्ञा दी। जो लोग कृषि, पशुपालन वस्तुओं के क्रय-विक्रय में अर्थात वाणिज्य में निपुण थे उन लोगों के वर्ग को "वैश्य वर्ण" की संज्ञा दी। जिन कार्यों को करने के लिए वैश्य लोग अरुचि एवं अनिच्छा व्यक्त करते थे, उन कार्यों को करने के लिए तथा जनसमुदाय की सेवा करने को जो तत्पर हुए उन्हें "शूद्र" की संज्ञा दी। इस प्रकार ऋषभ स्वामी ने क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तीन वर्णों की स्थापना की।[5]

---

१. आ० चूर्णी : जिनदास गणि महत्तर, ऋषभदेवजी केशरीमल जी, रतलाम : श्वेताम्बर संस्था १६८४, पूर्व भाग पृ० १५६.

२. आ० नि० गा० २१३-१४.

३. आ० नि० गा० २१२.

४. आ० नि० गा० २१३.

५. आदि पु० पर्व १६ श्लोक २४३ से २४६.

चौथे "ब्राह्मण" वर्ण की स्थापना ऋषभस्वामी के ज्येष्ठ पुत्र भरत द्वारा की गई थी। जो व्यक्ति लोगों को "माहन, माहन" (हिंसा मत करो) ऐसी शिक्षा देते थे, उन्हें "माहण" अर्थात् "ब्राह्मण वर्ण" की संज्ञा दी गई।[1]

इस प्रकार चार वर्णों की स्थापना भरत के समय तक हुई।

---

१. हस्तीमलजी महाराज: **जैन धर्म का मौलिक इतिहास** भाग १, जयपुर: जैन इतिहास समिति १९७१, पृ० २९.

चतुर्थ अध्याय

"राज्य एवं राजा"

(क) "राज्य का स्वरूप"

१. राज्य की उत्पत्ति :—

भारत में राजसत्ता बहुत आवश्यक है। लेकिन हमारा देश एक ऐसा भी समय बिता चुका है, जिसमें "शासन पद्धति" का सर्वथा अभाव था। महाभारत और दीघनिकाय में सृष्टि के आदिकाल में स्वर्ण-युग की कल्पना का उल्लेख है। यूनानी एवं फ्रांसीसी विद्वान प्लेटो तथा रूसो ने भी आदिम काल में स्वर्णयुग की परिकल्पना की है।[1] जैन पुराणों में भी सृष्टि के प्रारम्भ में स्वर्णयुग का उल्लेख आया है। उस काल में राज्य का आविर्भाव नहीं हुआ था, तथा प्रजा पूर्ण रूप से सुखी थी। कल्पवृक्षों द्वारा व्यवस्था नियन्त्रित होती थी। कालान्तर में माँग की अपूर्ति पूर्णतः न होने के कारण व्यवस्था में व्यवधान उत्पन्न हो गया था। इसके निवारणार्थ कुलकर उत्पन्न हुए और मनुष्यों ने इनसे उभयपक्षीय समझौता किया।[2]

जैन पुराणों में राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्तों में सामाजिक समझौते पर अधिक बल दिया गया है। जैन मान्यतानुसार राज्य दैवी संस्था न होकर मानवीय संस्था थी। इसका निर्माण प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले व्यक्तियों द्वारा आपसी समझौते के आधार पर हुआ। आदि-काल में यौगलिक व्यवस्था थी। एक युगल जन्म लेता था और वही युगल दूसरे युगल को जन्म देने के बाद मृत्यु को प्राप्त हो जाता था। इस प्रकार

---

१. अल्तेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० २१.

२. धन्यकुमार राजेशः "जैन पौराणिक साहित्य में राजनीति" : श्रमण, वर्ष २३ अंक २, नम्बर १९७३ पृ० ३-४

के अनेक युगल थे।[1] कालान्तर में प्रकृति-परिवर्तन से प्राकृतिक साधनों का ह्रास होने के कारण राजनैतिक समाज की स्थापना हुई।[2]

दु:ख एवं विपत्तियों से प्रजा के रक्षणार्थ चौदह कुलकरों[3] का समय-समय पर जन्म हुआ। ये चौदह कुलकर प्रजा के पितातुल्य थे। महापुराण में वर्णित है कि कर्म-भूमि से पूर्व भोग-भूमि थी, उसमें दुष्टों को दण्ड देने और सज्जनों की रक्षा का प्रश्न ही उपस्थित नहीं था। भोग-भूमि के पश्चात् जब कर्म-भूमि का प्रादुर्भाव हुआ, उस समय राजा का अभाव होने के कारण प्रजा में मत्स्य-न्याय पनपने लगा। जिस प्रकार बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को निगल जाती हैं, उसी प्रकार सबल व्यक्ति निर्बलों को कष्ट पहुँचाने लगे।[4] जैन पुराणों के समकालीन वसुबन्धु जैसे आचार्यों ने भी इसी प्रकार विचार व्यक्त कर उपर्युक्त मत की पुष्टि की

---

१. पद्मपुराण : रविषेण, काशी : भारतीय ज्ञानपीठ १९४४, ३/३०-८८,

हरिवंशपुराण : जिनसेन सम्पा० पन्नालाल जैन, काशी : भारतीय ज्ञानपीठ १९४४, ७/१६६-१७०,

महापुराण : ३/१२२-१६३, तुलनीय : नैवं राज्यं न राजासीन्न च दण्डोन दाण्डीकः।

धर्मेणव प्रजा : सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥

५९/१४.

महाभारत शान्तिपर्वः

२. अथकालन्त्यो हानि तेषु यातेष्वनु क्रमात्।
कल्पपाद पखण्डेषु श्रृणु कौलकरीं स्थितिम्॥ पद्म पु० ३/७४.

३. महा पु० ३/६३-१६३, हरिवंश पु० ७/१२५-१७६.
पद्म पु० ३/७५-८८.

४. दुष्टानां निग्रहः शिष्ट प्रतिपालनमित्ययम्।
न पुरासीत्क्रमो यस्मात् प्रजाः सर्वा निरागसः॥
प्रजाऽण्ड धराभावे मात्स्यं न्यायं श्रयन्त्यमः।
ग्रस्यतेऽन्तः पदुष्टेन निर्बलोहिबलीयसा॥ महा पु० १६/२५१-५२.

है ।[1] इसके अलावा जैनेत्तर ग्रंथों में भी मत्स्य-न्याय का सुन्दर विवेचन उपलब्ध है ।[2]

२. **राज्य के प्रकार :—**

राज्य की उत्पत्ति के साथ ही समाज में तत्संबंधित समस्याओं का भी प्रादुर्भाव हुआ । महापुराण में समस्याओं का समाधान करने के लिए साधनों का निर्देश है :—आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दण्ड ।[3] पद्म पुराण के अनुसार एक देश नाना जनपदों से व्याप्त होता था, जिसमें पत्तन, ग्राम, संवाह, मटम्ब, पुटभेदन, घोष तथा द्रोणमुख आदि आते थे ।[4]

प्राचीन ग्रन्थों का जब हम अध्ययन करते हैं तो राज्यों के प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं । आचार्य कौटिल्य ने द्वैराज्य का उल्लेख किया है ।[5] प्राचीन भारत में "राज्य संघ" का वर्णन मिलता है । उदाहरणार्थ :— यौधेय गणराज्य तीन गणराज्यों का संघ था । लिच्छवियों ने एक बार मल्लों तथा दूसरी बार विदेहों के साथ संघ बनाया था ।[6] कालिदास ने अपने ग्रन्थों में राज्य के प्रकारों का वर्णन किया है जिसका विवरण निम्न प्रकार है—राज्य, महाराज्य, अधिराज्य, द्वैराज्य, साम्राज्य तथा सार्वभौम (चक्रवर्ती राज्य)[7] ।

---

१. **पद्म पुराण**, ३/७८-८८, हरिवंश पुराण, ७/१२३-१२७, ७/१४१-१५८.

२. **रामायण: वाल्मीकि**, **अयोध्याकाण्ड** ६७/३१, **महाभारत शान्तिपर्व** १५/३०, **अर्थशास्त्र** १/४ पृ० १३, **मनुस्मृति** ७/१७,
कामन्दकीय: नीतिसार, संशो० गणपतिशास्त्री, त्रिवेन्द्रम्: महामहीम श्रीमूलक रामवर्मा कुलशेखर महाराजशासनेन, १९१२, ५/४०.

३. **महा० पु०** ५१/५.

४. देशो जनपदाकीर्णो विषय: सुन्दरो महान ।। पत्तनग्राम संवाहमटम्बपुटभेदनै: घोषद्रोणमुखश्चैव सन्निवेशैर्विराजित: । **पद्म पु०** ४१/५६-५७.

५. **कौटिल्य अर्थशास्त्र** ८/२, पृ० ५३०.

६. **प्राचीन भारतीय शासन पद्धति**, पृ० ३०.

७. भगवतशरण उपाध्याय; **कालिदास का भारत**, भाग १, काशी: भारतीय ज्ञानपीठ १९५४, पृ० १८५.

जैन ग्रंथ आचारांग सूत्र में कई प्रकार के राज्यों का उल्लेख किया गया है। जैसेः—गणराज्य, द्वैराज्य और वैराज्य।[1] पद्मपुराण[2] के अनुसार सामान्यतया एक राज्य का प्रचलन था, परन्तु कभी-कभी दो राजाओं द्वारा सम्मिलित रूप से शासित देश का दृष्टांत मिलता है, उसे महापुराण में द्वैराज्य की संज्ञा प्रदान की गई है। निशीथचूर्णी में सात प्रकार के राज्यों का वर्णन मिलता है।[3] अनाराज्य (अराजक), जुवराज्य, वेरज्ज, विरुध-राज्य, दोराज्य, गणराज्य और राज्य। लेकिन इन राज्यों में से केवल वेरज्ज (वेराज्य), गणराज्य, दोरज्ज (द्वैराज्य) ही राज्य के प्रकार की कोटि में रखे जाते हैं। अन्य राज्य विशिष्ट तरह की राजनीतिक स्थितियों के सूचक हैं, न कि स्वतंत्र राज्य के प्रकार हैं।

३. राज्य के उद्देश्य एवं कार्य :—

पद्म पुराण में बर्णित है कि इच्छानुसार कार्य करना ही राज्य कहलाता है।[4] महापुराण में उस राज्य की निन्दा की गई जिसका ध्येय अश्रेयस्कर है तथा जिसमें निरन्तर पापों की उत्पत्ति एवं सुख का अभाव है सशक्ति मनुष्य महान दुःख प्राप्त करते हैं।[5] डॉ० अल्तेकर का मत है "शान्ति, सुव्यवस्था की स्थापना और जनता का सर्वांगीण, नैतिक, सांस्कृतिक और भौतिक विकास करना ही राज्य का उद्देश्य था।[6]

---

१. **आचारांग सूत्र** : सम्पा० नथमल, लाडनूं (जोधपुर) वि०स० २०३१ १/३/१६०

२. **पद्मपुराण** १०६/६५.

३. जैन आगामें में चार प्रकार के वैराज्य का उल्लेख मिलता है :—

(१) अणराज :—राजा की मृत्यु हो जाने पर यदि अन्य राजा या युवराज का अभिषेक न हुआ हो तब उसे अणराज कहते हैं। (२) जुवराज :—पहले राजा द्वारा नियुक्त युवराज से अधिष्ठित राज्य, जब तक दूसरा युवराज अभिषिक्त न किया गया हो, को युवराज कहा गया है। (३) वैराज्जय या वैराज्य :—अन्य राज्य की सेना ने जब राज्य को घेर लिया हो तो वैराज्जय कहते हैं।

४. स्वेच्छाविधानमात्रं हिननु राज्य मुद्राहृतम् पद्म पु० ८८/२४.

५. राज्ये न सुख लेशोऽपि दुरन्ते दुरिता वहे।

सर्वतशङ्कमानस्य प्रत्युतात्रा सुखं महत्॥ महा पु० ४२/२०.

६. प्राचीन भारतीय शासन पद्धति पृ० ४०.

४. राज्य के कार्य :—

राज्य के कार्यों को दो भागों में बांटा जा सकता हैं :—

१. आवश्यक कार्य, २. ऐच्छिक कार्य या लोकहितकारी कार्य।

(१) **आवश्यक कार्य :—**

इस श्रेणी में वे सभी कार्य आते हैं जो समाज के संगठन के लिए नितान्त आवश्यक हैं। जैसे—बाह्य शत्रु के आक्रमण से रक्षा, प्रजा के जान-माल का संरक्षण, देश में शान्ति, सुव्यवस्था और प्रबन्ध आदि।

(२) **ऐच्छिक या लोकहितकारी कार्य :—**

इस श्रेणी में लोकहित के विविध कार्यों का अन्तर्भाव होता है। जैसे:—शिक्षा, दान, स्वास्थ्य-रक्षा, व्यवसाय, डाक और यातायात का प्रबन्ध, जंगल और खानों का विकास, दीन-अनाथों की देख-रेख आदि आते हैं।

जैन पुराणों में राज्य के उद्देश्य एवं कार्यों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध नहीं है, तथापि उनके अध्ययन से उपर्युक्त विचारों की पुष्टि होती है। जैनाचार्यो ने राज्य को मनुष्यों के सर्वाङ्गीण विकास का केन्द्र माना है। इसलिए प्रजा के कल्याण के लिए राजाओं को प्रत्येक क्षण सचेष्ट और प्रोत्साहित किया है।

(का) **राज्य के सिद्धान्त :—**

(१) **राज्य के सप्तांग सिद्धान्त :—**

जैन पुराणों में राज्य के अंगों के विषय मे विस्तार से वर्णन किया गया है। महापुराण में राज्य की सात प्रकृतियों (अंगों) का वर्णन

---

१. प्राचीन भारतीय शासन पद्धति पृ० ४८.

२. स्वाम्यमात्यौ जनस्थान कोशो दण्डः सगुप्तिकः।
मित्रं च भूमिपालस्य सप्तः प्रकृतयः स्मृताः॥ महा पु० ६८/७२.

उपलब्ध है :—स्वामी, अमात्य, दण्ड, जनस्थान, गढ़, कोष तथा मित्र।[1] जैनेत्तर ग्रन्थों में भी राज्य के सप्तांगों की विवेचना की गई है।[2] वस्तुतः प्रकृति और अंग शब्द समानार्थ में प्रयुक्त हुआ है। "प्रकृति" शब्द राज्य के मण्डल के अंगों का भी द्योतक है।[3] शुक्रनीतिसार में "प्रकृति" शब्द का तात्पर्य मंत्रियों से किया है।[4] रघुवंश में इसका अर्थ प्रजा के लिए भी आया है।[5] शुक्रनीतिसार में राज्य के सप्तांगों की तुलना शरीर के अंगों से की गई है। उसमें बताया गया है कि राजा सिर, मंत्री नेत्र, मित्र कान कोष मुख, बल (सेना) मन, दुर्ग (राजधानी) हाथ, राष्ट्र पैर हैं।[6] कामन्दक ने लिखा है कि राज्य के सप्तांग एक दूसरे के पूरक है। यदि राज्य का कोई अंग दोषपूर्ण हुआ तो राज्य ठीक से नहीं चल सकता।[7] मनु ने राज्य के सभी अंगों की एकता पर बल दिया है।[8]

राज्य के उपर्युक्त सात अंगों में से यहाँ पर हम सिर्फ जन-स्थान

---

१. स्वाम्यज्ञात्यौ जनसंस्थानं कोशो दण्डः सगुप्तिकः।
मित्रं च भूमिपालस्य सप्तः प्रकृतयः स्मृताः॥ महा पु० ६८/७२.

२. स्वाम्यमात्य जनपद दुर्ग कोश दण्डमित्राणि प्रकृतयः। अर्थशास्त्र ६/१ पृ० ४१५.
स्वाश्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा।
सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्तांङ्गं राज्यमुच्यते॥ मनु० ९/२९४.
स्वाम्यमात्मा जनो दुर्गं कोशौ दण्डतथैव च।
मित्राण्येताः प्रकृतयो राज्यं सप्तांग मुच्यते॥ याज्ञवल्क्यस्मृतिः सम्पा० सुन्दरमल, बम्बई : श्री वेङ्कटेश्वर, १९००, १/३५३.
महाभारत शान्तिपर्व, ६९/६४-६५, मत्स्यपुराणः कृष्णद्वैपायन २२५/११, अग्निपुराणः अनु० एस० एन० दत्त, कलकत्ता १९०३, २३३/१२, कामन्दकीय नीतिसार १/१६.

३. अर्थशास्त्र ६/२ पृ० ४२२.

४. शुक्र २/७०-७३.

५. रघुवंश कालिदास कृत—वाराणसी: चौखम्बा प्रकाशन १९६१ ८/१८.

६. शुक्र १/६१-६२.

७. कामन्दक ४/१-२.

८. मनु ९/२९५.

(देश), दुर्ग, कोष और मित्र की विवेचना करेंगे। अन्य शेष का वर्णन यथास्थान प्रस्तुत किया जायेगा।

१. **जन-स्थान** :—

राज्य के सात अंगों में से जनस्थान भी राज्य का एक अंग माना गया है। जनस्थान शब्द "राष्ट्र" के लिए प्रयुक्त किया गया है। राष्ट्र शब्द का अर्थ ऋग्वेद में स्पष्ट है।[1] जैन पुराणों में जनस्थान को जनपद या देश की संज्ञा दी गई है। पद्मपुराणानुसार भी जनस्थान को जनपद या देश की संज्ञा दी गई है। इससे पत्तन, ग्राम, संवाह, मटम्ब, पुरभेदन, घोष, द्रोण-मुख आदि सम्मिलित थे।[2] महापुराण में वर्णित है कि जनस्थान की, प्रजा की सुरक्षा एवं सुव्यवस्था के लिए राजा होता है, जो कि इसकी सुख-सुविधा एवं व्यवस्था का उत्तरदायित्व स्वयं ग्रहण करता है। प्रजा इसके बदले में राजा को कर देती है।[3] जैनेत्तर अग्निपुराण में राष्ट्र को राज्य के सात अंगों में सर्वोत्तम स्थान प्राप्त है।[4]

१. **गढ़ [दुर्ग]** :—

प्राचीन समय में जब राज्य की उत्पत्ति हुई उस समय गढ़ या दुर्ग को ही राजधानी सम्बोधित किया जाता था। प्राचीन काल में राज्य की सुरक्षा एवं संचालन की दृष्टि से दुर्ग का महत्त्वपूर्ण स्थान था। जिस देश में दुर्ग नहीं होते, उस देश पर शत्रु राजा आक्रमण कर उसे अपने देश में मिला लेते थे। दुर्ग शत्रु के आक्रमण-काल में सुरक्षा एवं सुचारू रूप से युद्ध-संचालन में सहायता प्रदान करते थे।[5] महापुराण में वर्णित है कि उस समय यथास्थान रखे हुए यन्त्र-शास्त्र, जल, जौ, घोड़े और रक्षकों से

१. ममद्विता राष्ट्रं क्षात्रियस्य। **ऋग्वेद** ४/४२.

२. पद्म पु० ४१/५६-५७. तुलनीय :—**अर्थशास्त्र** २/१ पृ० ६६, मनु ७/११४-११७.

३. पद्म पु० १८/२७०-२८०.

४. **बी० बी० मिश्र : पॉलिटी इन द अग्निपुराण**, पृ० ३१ कलकत्ता : पन्थी पुस्तक, १९६५, पृ० ३१.

५. पद्म पुराण, २६/४०, ४३/२८.

भरे हुए किले थे।[1] दुर्ग के विषय में विस्तृत जानकारी हम आगे प्रस्तुत करेंगे।

३. कोष :—

किसी भी देश का स्थायित्व वहाँ की लक्ष्मी (धन-सम्पत्ति) तथा देश की सम्पन्नता पर निर्भर करता है। शास्त्रकारों ने कोष की महत्ता के दृष्टिकोण से राजा का सर्वप्रथम कोष की परिपूर्णता पर ध्यान आकर्षित कराया है।[2] प्राचीनकाल में कोष को राज्य का मूल स्रोत बताया गया है।[3]

जैन पुराणों के अनुसार राजाओं के पास राजलक्ष्मी निवास करती थी, जिससे उन्हें देश व्यवस्था के संचालन में सुगमता प्राप्त होती थी। महापुराण में जैनाचार्यों ने राजलक्ष्मी को पापयुक्त वर्णित किया है।[4] इसके अलावा यह भी उल्लिखित किया है कि यद्यपि राजलक्ष्मी फलवती है तथापि कंटकाकीर्ण है।[5]

४. मित्र :—

जिस प्रकार आधुनिक युग में राष्ट्रों को मित्र राष्ट्रों की आवश्यकता होती है, उन मित्र राष्ट्रों से युद्ध काल में सहयोग प्राप्त होता है। उसी प्रकार प्राचीन काल में भी राजाओं के लिए मित्र राज्य बनाना आवश्यक होता था। पद्म पुराण के अनुसार युद्ध काल में विजय प्राप्त करने के लिए मित्र राजा का सहयोग प्राप्त करना आवश्यक होता था। शत्रु द्वारा

---

१. दुर्गविण्यासन् यथास्थानं सातत्येनानुसंस्थितैः।
भृतानि यन्त्रशस्त्राम्बुयवसैन्धवरक्षकैः। महा पु० ५४/२४.

२. महाभारत शान्तिपर्व ११९/१६.

३. महाभारत शान्तिपर्व १३०/३५, कामन्दक ३१/३३, नीतिवाक्यामृत: सोमदेवसूरि विरचित : संशो० पं० पन्नालाल सोनी, बम्बई : भा० दि० जैन ग्रन्थमाला समिति १९७९, २१/५.

४. महा पु० ३६/९७, पद्म पु० २७/२४-२५.

५. दूषितां कटकैरेनां फलिनीमपि ते श्रियम्। महा पु० ३६/९८.

आक्रमण होने पर विजय प्राप्त करने के लिए मित्र राजाओं की आवश्यकता पड़ती थी।[1] जैनेत्तर पुराणों में मित्र के महत्त्व एवं गुणों की विवेचना मिलती है।[2]

जैन मान्यतानुसार जहाँ एक ओर अच्छे मित्रों की अनिवार्यता पर बल दिया गया है, वहीं दूसरी ओर दुष्ट मित्रों से सजग रहने के लिए सावधान भी किया गया है। पद्म पुराण में दुष्ट मित्रों के लिए कहा गया है कि मंत्र, दोष, असत्कार, दान, पुण्य, स्वशूरवीरता, दुष्ट स्वभाव तथा मन की दाह का ज्ञान दुष्ट मित्रों को नहीं होना चाहिए।[3]

(II) राज्य के चतुष्टय सिद्धान्त :—

महापुराण में राज्य के चार मूल-भूत तत्त्वों की विवेचना की गई है। राज्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए चार तत्त्व साम, दाम, दण्ड एवं भेद पर पर्याप्त रूप से प्रकाश डाला गया है।[4]

1. साम :— किसी पक्ष को मिलाकर या मित्र बनाकर कार्य करना ही 'साम' सिद्धान्त है।
2. दाम :—इस सिद्धान्त के अनुसार लोभी व्यक्ति को धन देकर वश में किया जा सकता है या उससे कार्य लिया जा सकता है।
3. दण्ड :—अन्य सिद्धान्तों के निष्फल हो जाने पर इस सिद्धान्त का उपयोग किया जाता है। यह सिद्धान्त सबसे निकृष्ट माना गया है। इसका प्रयोग करते समय अपनी सामर्थ्य का पूर्ण रूप से ज्ञान होना आवश्यक है।
4. भेद :—इस सिद्धान्त के अनुसार शत्रु को आपस में लड़ाकर सफलता प्राप्त की जा सकती है।

---

१. पद्म पु० १९/१, ५५/७३.

२. अर्थशास्त्र ७/९ पृ० ४६७, महाभारत शान्तिपर्व १३८/११०, मनु ७/२०९. कामन्दक ४/७४-७६, ८/५२, शुक्र ४/१/८-१०.

३. मन्त्रदोषमसत्कारं दानं पुण्यं स्वशूरताम्। दुःशीलत्वं मनोदाहं दुर्मित्रेभ्यो न वेदयेत ॥ पद्म पु० ४७/५.

४. रामायण ५/४१३, मनु ७/१०७, याज्ञवल्क्य १/३४६, शुक्र ४/१/७७.

(III) राज्य के षड्-सिद्धान्त : –

राज्य के मूल तत्त्वों में षड्-सिद्धान्त का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन सिद्धान्तों का उपयोग पर राष्ट्रों पर किया जाता था। इनका यथोचित पालन कर राजा सफलता के शिखर पर आरूढ़ होता था। महापुराण के अनुसार षड् सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :—

संधि, विग्रह, आसन, यान, संशय और द्वैधोभाव।[1]

संधि : –

युद्ध करते समय दो राजाओं में मैत्रीभाव हो जाना संधि कहलाती है। यह संधि दो प्रकार की होती है। (१) **सावधि संधि :**— निश्चित-कालीन मित्रता को सावधि संधि कहते हैं। (२) **अवधि रहित संधि :**— यह वह संधि है, जिसमें समय-सीमा का प्रतिबन्ध नहीं रहता है।[2] कौटिल्य-अर्थशास्त्र में आमिष, पुरुषान्तर, आत्मरक्षण, अदृष्ट पुरुष, दण्डमुख्यात्म-रक्षण, दण्डोवनत, परिक्रम, उपग्रह, अत्यय, सुवर्ण, कपाल आदि संधियों का भी उल्लेख किया गया है।[3] जैनेत्तर अग्निपुराण में सोलह प्रकार की संधियों का वर्णन किया गया है।[4]

विग्रह : –

जब दो राजा (अर्थात् एक शत्रु राजा तथा दूसरा विजय प्राप्त करने वाला राजा) परस्पर एक-दूसरे का अपकार करते हैं, उसे विग्रह कहा जाता है।[5]

---

१. सन्धिः विग्रहो नेतुरासनं यानसंश्रयो। द्वैधीभावश्च षट् प्रोक्ता गुणाः प्रणयिनः श्रियं। (महा० पु० ६८/६६-६७)

२. कृतविग्रहोयाः पश्चात्केनचिद्धेतुना तयोः।
मैत्रीभावः स संधिः स्यात्सावधिर्विगतावधि॥ वही ६८/६७-६८.

३. अर्थशास्त्र ७/३ पृ० ४३६-४३७.

४. वी० बी० मिश्र : पॉलिटी इन दी अग्निपुराण, कलकत्ता पन्थी पुस्तक १९६५, पृ० १९४.

५. परस्परापकारोऽरिविजिगीष्वोः स विग्रहः। महा पु० ६८/६८, पद्म पु० ३१/३.

ग्रासन :—

जब कोई राजा यह समझ ले कि इस समय मुझे कोई दूसरा राजा और मैं किसी अन्य राजा को नष्ट करने में समर्थ नहीं हूँ, और जो राजा शान्तभाव से रहता है। इसे आसन कहते हैं। इस सिद्धान्त को राजाओं की वृद्धि का कारण बताया गया है।[1]

यान :—

शत्रु पर आक्रमण करना यान कहलाता है। अर्थात् अपनी वृद्धि और शत्रु की हानि होने पर दोनों का शत्रु के प्रति जो उद्यम है वह यान कहलाता है। यह शत्रु की हामि और अपनी वृद्धि रूप फल देने वाला होता है।[2]

संश्रय :—

संश्रय का अर्थ है :—आश्रय देना। जिसको कहीं शरण नहीं मिलती है, उसे अपनी शरण में रखना संश्रय कहलाता है।[3]

द्वैधीभाव :—

शत्रुओं में संधि-विग्रह करा देना ही द्वैधीभाव है।[4]

जैनेत्तर ग्रन्थों से भी जैन पुराणों के षड् सिद्धान्तों की पुष्टि होती है।[5] इससे यह स्पष्ट होता है कि सभी मतों के आचार्यों ने राज्य के षड्-सिद्धान्तों को मान्यता प्रदान की है।

---

१. मामिहान्यो हमप्यन्यमशक्तो हन्तुमित्यतो।
तूष्णींभावों भवेन्नेतुरासनं वृद्धिकारणम् ॥ महा पु० ६८/६९.

२. स्ववृद्धो शत्रुहानो वा द्वयोर्वाभ्युद्यमं स्मृतम्।
अरिं प्रति विभोर्यानि तावन्मात्रफल प्रदम् ॥ वही ६८/७०.

३. अनन्यशरणस्याहः संश्रयं सत्यसंश्रयम्। वही ६८/७१.

४. सन्धिविग्रयोवृंत्तिद्वैधीभावो द्विषां प्रति। वही

५. अर्थशास्त्र ७/३ पृ० ४०३ ~~महाभारत शान्तिपर्व~~ ६९/६७-६८ मनु ७/१६०, कामन्दक ९/१६, शुक्र ४/१०६५-६,

(ख) "राजा"

(१) राजा तथा उसका महत्त्व :—

प्राचीन समय में राज्य का सर्वोपरि महत्त्वपूर्ण व्यक्ति राजा होता था। उसी के आदेशानुसार ही राज्य की सारी व्यवस्था संचालित होती थी। कौटिल्य ने तो संक्षेप में राजा को ही राज्य स्वीकार किया है।[१] राजा तथा उसके महत्त्व के बारे में जैन पुराणों में प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। पद्म पुराण में वर्णित है कि राजा द्वारा ही धर्म की उत्पत्ति होती है।[२] जैन मान्यतानुसार पृथ्वी पर मनुष्य को धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष के उपयोग का अधिकार प्राप्त है, किन्तु राजा द्वारा सुरक्षित होने पर ही ये मनुष्यों को उपलब्ध होते है।[३] राजा के विषय में यही विचार जैनेत्तर साहित्य में भी मिलता है।[४] जैनेत्तर विद्वान कात्यायन के मतानुसार राजा गृह-विहीन, अनाथ और निर्वंशी व्यक्तियों का रक्षक, पिता एवं पुत्र के तुल्य होता था।[५] अर्थात् वह प्रजा का संरक्षण पुत्रवत् करता था।

जिनसेन के अनुसार पृथ्वी पर जो कुछ भी सुन्दर, श्रेष्ठ एवं सुखदायक वस्तुएँ हैं, वे सब राजा के उपभोग के लिए होती हैं।[६] महा-पुराण में वर्णित है कि राजा चारों वर्णों एवं आश्रमों का रक्षक होता था।[७]

जैनेत्तर साहित्य में राजत्व में दैवत्त्व स्वरूप को मान्यता दी गई

---

१. राजा राज्यमिति प्रकृति संक्षेप: । कौटिल्य अर्थशास्त्र ८/२, पृ० ५२६.

२. धर्माणां प्रभवस्त्वं हि रत्नानाभिव सागर: । पद्म पु० ६६/१०.

३. धर्मार्थकाममोक्षाणामधिकारा महीतले ।
जनानां राजगुप्तानां जायन्ते तेऽन्यथा कुत: ।। पद्म पु० २७/२६.
महा पु० ४१/१०३.

४. कामन्दक १/१३, शुक्र १/६७.

५. जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन पृ० २३५.

६. महा पु० ४/१७३-१७५.

७. स्वामिसम्पत्समेतोऽभूच्चतुर्वर्णाश्रमाश्रय: । महा पु० ५०/३.

है।[1] महापुराण में राजा के भोग के साधनों का भी वर्णन है। उसके अनुसार रत्न सहित नव निधियाँ, रानियाँ, नगर, शय्या, आसन, सेना, नाट्यशाला, बर्तन, भोजन एवं वाहन आदि राजा के दस भोग के साधन होते थे।[2] उक्त पुराण में ही अन्य स्थान पर अशोक वृक्ष, दुन्दुभि, पुष्पवृष्टि, चमर, उत्तम सिंहासन, अनुपम वचन, ऊँचा छत्र, और भामण्डल— ये आठ चक्रवर्ती राजा के ऐश्वर्य निरूपित हैं।[3]

चक्रवर्ती के पास चौदह रत्न और नौ निधियाँ होती थीं।[4] वे चौदह रत्न इस प्रकार हैं :

१. **चक्र रत्न :—**

यह आयुधशाला में उत्पन्न होता था। सेना के आगे-आगे प्रयाण करता हुआ चक्रवर्ती को षट्खण्ड साधने का मार्ग दिखाता था। चक्रवर्ती इसकी सहायता से शत्र का शिरच्छेदन भी कर सकता था।

२. **छत्र-रत्न :—**

यह रत्न बारह योजन लम्बा और चौड़ा होता था। छत्राकार के रूप में सेना की सर्दी, वर्षा एवं धूप से रक्षा करता था। छत्री की भांति इसको लपेटा भी जा सकता था।

३. **दण्ड-रत्न :—**

यह विषम मार्ग को सम बनाता था। वैताढ्य पर्वत की दोनों गुफाओं के द्वार खोलकर उत्तर भारत की ओर चक्रवर्ती को पहुंचाता था। दिगम्बर परम्परा के अनुसार वृषभाचल पर्वत पर नाम लिखने का कार्य भी यह रत्न करता था।

---

१. मनु० ७/४-८, शुक्र १/७१-७२, मत्स्य पु० २२६/१.

२. सरला निधयो दिव्या: पुरं शय्यासनेचम: ।
नाट्यं समाजनं भोज्यं वाहनं चेततानि वै ।। महा पु० ३७/१४३.

३. जयति तरूरशोको दुन्दुभि: पुष्पवर्षम् चमरिरूहसमेतं विष्टरं सैंद्रहमुद्रयम् ।
वचनमसममुच्चैरातपत्रंच तेज: त्रिभुवन जयचिन्हं यस्म सार्वो जिनाऽसो ।।
महा पु० ३५/२४४.

४. त्रि० श० पु० च: ,हेमचन्द्राचार्य भावनगर श्री जैन आत्मानंद सभा १९३७ १/४,

४. असि-रत्न :—

यह रत्न पचास अंगुल लम्बा, सोलह अंगुल चौड़ा एवं आधा अंगुल मोटा होता था। अपनी तीक्ष्ण धार से यह रत्न दूर में रहे हुए शत्रुओं को भी नष्ट कर डालता था।

५. मणि-रत्न :—

सूर्य और चन्द्रमा की तरह यह रत्न अंधकार को नष्ट करता था। इस रत्न को मस्तक पर धारण कर लेने से मनुष्य पर देव तथा तिर्यंच कृत उपसर्ग नहीं होता था। हस्तिरत्न के कुम्भ-स्थल पर रख देने से अश्वमेध विजय होती थी।

६. काकिणी-रत्न :—

यह रत्न बारह अंगुल प्रमाण का होता था। इस रत्न के माध्यम से चक्रवर्ती वैताढ्य पर्वत की गुफा में उनपचास मण्डल बनाते थे। एक-एक मण्डल का प्रकाश एक-एक योजन तक फैलता था। और इसी रत्न से चक्रवर्ती ऋषभकूट पर्वत पर अपना नाम अंकित करते थे।

७. चर्म-रत्न :—

दिग्विजय के समय नदियों को पार कराने में यह रत्न नौका के रूप में बन जाता था और म्लेच्छ (अनार्य) नरेशों के द्वारा जल-वृष्टि कराने पर यह रत्न सेना की सुरक्षा करता था।

८. सेनापति-रत्न :—

वासुदेव के समान शक्तिवाला होता था। यह चार खण्डों पर विजय प्राप्त करता था।

९. गाथापति-रत्न :—

यह रत्न चक्रवर्ती की सेना के लिए उत्तम भोजन की व्यवस्था करता था। दिगम्बर ग्रंथों में गाथापति को गृहपति-रत्न कहा गया है।

१०. वर्धकी-रत्न :—

यह चक्रवर्ती की सेना के लिए आवास-व्यवस्था करता था। उन्मग्नजला, निमग्नजला आदि नदियों पर पुल बाँधने का कार्य यह रत्न करता था।

११. पुरोहित-रत्न :—

यह ज्योतिष-शास्त्र, स्वप्न-शास्त्र, निमित्त-शास्त्र, लक्षण और व्यंजन आदि का पूर्ण ज्ञाता होता था। देवी उपक्रमों को शान्त करता था।

१२. स्त्री-रत्न :–

यह सर्वांग सुन्दरी होती थी। सर्दी युवती ही बनी रहती थी। इसके तीव्र भोगावली कर्म का उदय होता था। इसके प्रति चक्रवर्ती का अत्यधिक राग होता था।

१३. अश्व-रत्न :—

यह श्रेष्ट अश्व एक क्षण में सौ योजन लाँघ जाने की शक्ति रखता था। कीचड़, जल, पहाड़, गुफा आदि बिषम स्थलों को सहज पार कर जाता था। भरत चक्रवर्ती के अश्व-रत्न का नाम "कमलापीड" था।

१४. हस्ति-रत्न :—

यह ऐरावत हाथी की तरह सर्वगुण-सम्पन्न होता था।

उपर्युक्त प्रत्येक रत्न के एक-एक हजार देव रक्षक होते थे। अर्थात् चौदह रत्नों के चौदह हजार देवता रक्षक थे।

वैदिक साहित्य में चौदह रत्नों के नाम प्राप्त होते हैं।

१. हाथी, २. घोड़ा, ३. रथ, ४. स्त्री, ५. बाण, ६. भण्डार, ७. माला, ८. वस्त्र, ९. वृक्ष, १०. शक्ति. ११. पाश, १२. मणि, १३. छत्र, और १४. विमान।

चक्रवर्ती की नव-निधियाँ :—

सम्राट भरत के पास नव-निधियाँ थीं, जिनसे वे मनोवांछित वस्तुएँ प्राप्त करते थे। निधि का अर्थ खजाना है। आचार्य अभयदेव के अनुसार चक्रवर्ती को अपने राज्य के लिए उपयोगी सभी वस्तुओं की प्राप्ति इन नव-निधियों द्वारा ही होती थी। इसलिए इन्हें नवविधान के रूप में गिनाया है। यह नव-निधियाँ निम्न प्रकार की हैं।

१. नेसर्प निधि :—

यह निधि ग्राम, नगर, द्रोणमुख, मण्डप आदि स्थानों के निर्माण में सहायक होती थी।

२. पांडुक निधि : –

यह मान, उन्मान और प्रमाण आदि का ज्ञान करती थी, तथा धान्य और बीजों को उत्पन्न करती थी।

३. पिङ्गल निधि :—

यह निधि, मनुष्य एवं तिर्यंचों के सर्वविध आभूषणों की विधि का ज्ञान कराने वाली तथा योग्य आभरण प्रदान करती थी।

४. सर्व रत्नकविधि :—

इस निधि से वज्र वैडूर्य, मरकत, माणिक्य, पद्मराग, पुष्पराज आदि बहुमूल्य रत्न प्राप्त होते थे।

५. महापद्मनिधि :—

यह निधि सभी प्रकार के शुद्ध एवं रंगीन वस्त्रों की उत्पादिका थी।

६. काल निधि :—

वर्तमान, भूत, भविष्य, कृषिकर्म, कला-शास्त्र, व्याकरण-शास्त्र आदि का यह ज्ञान कराती थी।

७. महाकाल निधि :—

सोना, चाँदी, मोती, प्रवाल, लोहा आदि की खानें उत्पन्न कराने में सहायक होती थी।

८. माणव निधि :—

कवच, ढाल, तलवार, आदि विविध प्रकार के दिव्य आयुध, युद्ध-नीति तथा दण्डनीति आदि की जानकारी कराने वाली होती थी।

९. शंख निधि :—

विविध प्रकार के वाद्य-काव्य-नाट्य-नाटक आदि की विधि का ज्ञान कराने वाली होती थी।

यह सभी विधियाँ अविनाशी होती थीं। दिग्विजय से लौटते समय गंगा के पश्चिमी तट पर अट्ठम तप के तदुपरांत चक्रवर्ती सम्राट को प्राप्त होती थी। प्रत्येक निधि एक-एक हजार यक्षों से अधिष्ठित होती थी। इनकी ऊँचाई आठ योजन, चौड़ाई नौ योजन और लम्बाई बारह योजन होती थी। चन्द्र और सूर्य के चिह्नों से चिह्नित होती थी, तथा पल्योपम की आयु वाले नागकुमार जाति के देव इनके अधिष्ठायक होते थे।[१]

ये नौ निधियाँ कामवृष्टि नामक गृहपति-रत्न के अधीन थी एवं चक्रवर्ती के समस्त मनोरथों को सदैव पूर्ण करती थी।[२]

हिन्दू धर्म-सूत्रों में नवनिधियों के नाम इस प्रकार बताये गये है :—
(१) महापद्म, (२) पद्म, (३) शंख, (४) मकर, (५) कच्छप, (६) मुकुन्द, (७) कुन्द, (८) नील और (९) खर्व। ये निधियाँ कुबेर का खजाना भी कही जाती थी।

राजा के विषय में और भी कहा गया है कि समाज में फैली हुई अराजकता को दूर करने के लिये शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए, वर्ण संकरता को रोकने के लिए तथा लोक-मर्यादा की रक्षा करने के लिए राजपद की आवश्यकता होती है। सभी प्राचीन राजनीतिज्ञों ने राजपद की आवश्यकता को स्वीकार किया है। राजा का अर्थ है, प्रजा का रंजन करने वाला। महाभारत शान्तिपर्व में युधिष्ठिर द्वारा राजा शब्द की व्याख्या करने का आग्रह किये जाने पर भीष्म उनके प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि समस्त प्रजा को प्रसन्न करने के कारण उसको राजा कहते हैं।[१] राजा की उपस्थिति में ही प्रजा समाज में सुख-शान्ति-पूर्वक जीवन-यापन कर सकती है। इसके साथ ही धर्म, अर्थ एवं काम रूप त्रिवर्ग के फल की प्राप्ति करती है।

(II) राजा की उत्पत्ति

राजा की उत्पत्ति किस प्रकार हुई इस सम्बन्ध में भारतीय विचारकों ने कई सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। जो अग्रलिखित हैं :—

---

१. त्रि० श० पु० च० १/४/५६८-५७३.

२. हरिवंश पु० ११/१२३.

१. **महाभारत शान्तिपर्व ५९/१२५.**

१. वैदिक सिद्धान्त

राजा की उत्पत्ति का सर्वप्रथम सिद्धान्त वैदिक सिद्धान्त है। वेदिक वाङ्मय में राजा की उत्पत्ति की कुछ कल्पनाएँ की गई हैं, उनमें से एक कल्पना यह है कि राजा की उत्पत्ति युद्ध में नेता की आवश्यकता के परिणामस्वरूप हुई। इस सिद्धान्त का वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है।[१] किसी समय देवताओं और असुरों के मध्य युद्ध हुआ, और देवताओं की बराबर हार होती रही तब देवों ने अपनी पराजय के कारणों पर विचार किया, और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि उनके पराजय का कारण उनमें राजा का न होना ही था। उन्होंने फिर सोम को अपना राजा और नेता बनाया[२] तथा असुरों पर विजय प्राप्त की। अन्यत्र यह भी कहा गया है कि देवताओं में सबसे श्रेष्ठ, यशस्वी और शक्तिशाली होने के कारण ही इन्द्र देवताओं के अधिपति चुने गये।[३] एक और कथा के अनुसार वरुण देवताओं के राजा होना चाहते थे, पर वे उन्हें स्वीकार नहीं करते थे। तब अपने पिता प्रजापति से उन्होंने ऐसा मन्त्र प्राप्त किया कि वे सब देवताओं से बढ़ गये और सबने उन्हें अपना राजा माना।[४]

उपर्युक्त कथाओं से स्पष्ट होता है कि राजा की उत्पत्ति का कारण युद्ध में नेता की आवश्यकता थी और वही (नेता) व्यक्ति आगे राजा बनाया जाता था जो रण में सफल नेतृत्त्व कर सके। अतः वैदिक सिद्धान्त के अनुसार राजा की उत्पत्ति इस प्रकार हुई थी।

२. सामाजिक अनुबन्ध का सिद्धान्त

राजा की उत्पत्ति का दूसरा सिद्धान्त "सामाजिक अनुबन्ध का सिद्धान्त" है। इस सिद्धान्त के अनुसार राजा की उत्पत्ति समाज की

---

१. **ऐतरेय ब्राह्मण** : श्री मत्सायणाचार्य विरचित संशो०, काशीनाथ शास्त्री, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि, १९३०, १/१४.

२. **ऐतरेय ब्राह्मण** १.१४.
अराजन्तया वै नो जयति राजानं करवामहै इति ॥

३. **प्राचीन भारतीय शासन पद्धति** पृ० ६३.

४. वही पृ० ६३.

सहमति अथवा अनुबन्ध से हुई है। यह सिद्धान्त हमें महाभारत, बौद्ध ग्रन्थों, कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र तथा जैन पुराणों में मिलता है।

दीपनिकाय में विश्व की सृष्टि का वर्णन किया गया है। उसमें कहा गया है कि बहुत पहले स्वर्ण युग था। उसमें दिव्य प्रकाशवान शरीर वाले मनुष्य धर्म से आनन्दपूर्वक रहते थे। लेकिन कुछ समय पश्चात् इस अवस्था का अधःपतन हुआ। इसके फलस्वरूप समाज में अव्यवस्था तथा अराजकता व्याप्त हो गई। इस अराजकता से मुक्ति प्राप्त करने के लिए लोग एकत्रित हुए और उन्होंने एक योग्य, धार्मिक व्यक्ति का निर्वाचन किया जो समाज में फैली हुई अशान्ति और अव्यवस्था का अंत कर सकें तथा दुष्ट व्यक्तियों को दण्ड दे सकें। इस दिव्य पुरुष का नाम "महाजन सम्मत" था। यही व्यक्ति सबका स्वाकी, क्षत्रिय तथा धर्मानुसार प्रजा का रंजन करने वाला राजा कहलाया। इसकी सेवाओं के बदले में मनुष्यों ने उसे अपने धन का एक अंश देना स्वीकार किया। इस प्रकार समाज के अनुबन्ध के परिणामस्वरूप राजा की उत्पत्ति हुई। धन के बदले में राजा ने प्रजा की रक्षा एवं अव्यवस्था को दूर करने का उत्तरदायित्व वहन किया।[1]

महाभारत में सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त का उल्लेख शान्तिपव के ६७वें अध्याय में प्राप्त होता है। महाभारत के अनुसार पूर्वकाल में स्वर्ण युग था। राज्य तथा राजा नाम की कोई व्यवस्था नहीं थी। बाद में जब अराजकता व्याप्त हो गई तथा समाज का अधःपतन होने लगा, लोग सदाचार से भ्रष्ट होने लगे, स्वर्गीय व्यवस्था ने नरक का रूप ले लिया। ऐसी परिस्थिति में मत्स्य-न्याय पनपने लगा। जिस प्रकार बड़ी मछली छोटी मछलियों का भक्षण कर जाती है उसी प्रकार बलवान निर्बलों को नष्ट करने लगे, जिसकी लाठी, उसकी भैंस का सिद्धान्त प्रचलित था। इस अव्यवस्था से छुटकारा प्राप्त करने के लिए लोग ब्रह्मा के पास गये, और प्रार्थना की कि किसी व्यक्ति को उनका राजा नियुक्त करें। ब्रह्मा ने मनु को राजा बनाने के लिए कहा, लेकिन मनु सहमत नहीं हुए। मनु ने कहा कि राजा बनने पर अनेक पाप-कर्म करने पड़ते हैं,

---

१. दीपनिकाय, भाग ३, पृ० ६८-६६.

लोगों को दण्ड देना पड़ता है। शासन करना बहुत कठिन कार्य है। विशेषकर उस राज्य में जिसमें मनुष्य मिथ्याचार तथा छल-कपट में संलग्न हो। इस पर सब मनुष्यों ने मिलकर कहा कि आप चिन्ता मत करो, जो पाप करेगा, वह उसी का पाप होगा। हम लोग आपको पशु और स्वर्ण का पचासवाँ भाग तथा धान्य का दसवाँ भाग राजकोष की वृद्धि के लिए देंगे। प्रजा जिस धर्म का आचरण करेगी, उस धर्म का चतुर्थांश आपको मिलेगा। इस प्रकार हे राजन् आप हमारी रक्षा करें। इस प्रकार प्रार्थना किये जाने पर मनु ने राजपद स्वीकार कर लिया।[1]

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मनुष्य और मनु के मध्य इस प्रकार का अनुबन्ध हुआ तभी मनु ने राजपद स्वीकार किया। मनु का आविर्भात्र इस सामाजिक अनुबन्ध के परिणाम-स्वरूप होता है।

महाभारत के शान्तिपर्व में सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त का एक और रूप हमारे सामने प्रस्तुत होता है। उसमें युधिष्ठिर भीष्म से प्रश्न करते हैं कि लोक में जो यह राजा शब्द प्रचलित है उसकी उत्पत्ति कैसे हुई? जिसे हम राजा कहते हैं, वह सभी गुणों में दूसरों के सदृश है। उसके हाथ, पैर, जिह्वा भी औरों के समान है, मन, बुद्धि, इन्द्रिय सब औरों के समान हैं। वह अकेला होने पर भी शूरवीर एवं सत्पुरुषों से परिपूर्ण इस पृथ्वी का कैसे पालन करता है। यह सारा जगत देवता के समान उसके सामने झुक जाता है, इसका कोई कारण नहीं हो सकता। युधिष्ठिर के इस प्रश्न को सुनकर भीष्म फरमाते हैं कि "पहले न कोई राजा था, न राज्य था, न दण्ड था, न दण्ड देने वाले व्यक्ति थे, समस्त प्रजा धर्म के द्वारा ही परस्पर पनपती थी।[2] कुछ समय के पश्चात् पारस्परिक संरक्षण के कार्य में कष्ट अनुभव करने लगे, मोह का साम्राज्य छा गया। ज्ञान-शून्य होने से धर्म का विनाश हो गया। मोह के वशीभूत लोग लोभ के अधीन होने लगे। लोभ के अधीन लोगों को काम नामक शत्रु ने घेर लिया। काम के आधीन लोगों पर राग नामक शत्रु ने आक्रमण कर दिया। राग के वशीभूत होकर मनुष्य अकर्त्तव्याकर्त्तव्य की बात भूल गये।

---

१. **महाभारत शान्तिपर्व** अ० ६७/१७-२८ पृ० १४३-१४५.

२. **महाभारत शान्तिपर्व** अ० ५९/१४ पृ० १२२.

इस प्रकार मनुष्य लोक में धर्म का विनाश हो जाने पर वेदों के स्वाध्याय का भी लोप हो गया। वैदिक ज्ञान का लोप हो जाने पर यज्ञादि करना भी समाप्त हो गया। इस प्रकार वेद और धर्म का विनाश होने पर देवताओं के मन में भय उत्पन्न होने लगा, और वह ब्रह्मा की शरण में पहुंचे। ब्रह्मा को प्रसन्न कर सभी देवता हाथ जोड़कर इस प्रकार कहने लगे कि हे भगवन् मनुष्य लोक में मोह, लोभ, काम, राग आदि दूषित प्रवृत्तियों ने वैदिक ज्ञान को लुप्त कर डाला है, इस कारण हमें बहुत भय हो रहा है कि वैदिक ज्ञान का लोप होने से यज्ञ-धर्म भी नष्ट हो रहा है। इससे हम सब देवता मनुष्यों के सदृश हो गये हैं। हे भगवन् अब जिस उपाय से हमारा कल्याण हो सके वह उपाय सोचिये। आपके प्रभाव से हमें जो देव स्वरूप प्राप्त हुआ था वह नष्ट हो रहा है। देवताओं की बात सुनकर ब्रह्मा ने उनसे कहा, मैं तुम्हारे कल्याण की बात सोचूंगा। तद्नन्तर ब्रह्माजी ने अपनी बुद्धि से एक लाख अध्यायों वाले एक नीति-शास्त्र की रचना की, जिसमें धर्म, अर्थ और काम का विस्तार से वर्णन हुआ है।[1]

इसके बाद देवताओं ने भगवान् विष्णु के पास जाकर कहा कि जो पुरुषों में सर्वश्रेष्ट पद प्राप्त करने का अधिकारी हो ऐसे व्यक्ति का नाम बताइये। तब भगवान नारायण ने एक मानसपुत्र की सृष्टि की। जो विरजा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। विरजा ने पृथ्वी पर राजा होने की अनिच्छा प्रगट की, और सन्यास लेने का निश्चय किया। विरजा के कीर्तिमान् नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, कीर्तिमान् के कर्दम नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, कर्दम के अनंग नामक पुत्र हुआ, जो कार्यक्रम में प्रजा का संरक्षण करने में समर्थ तथा दण्डविद्या में निपुण था। अनंग के अतिबल नामक पुत्र हुआ। वह नीतिशास्त्र का ज्ञाता था, उसने विशाल राज्य प्राप्त किया। उसकी मानसिक कन्या से वेन का जन्म हुआ। वेन प्रजा पर अत्याचार करने लगा। तब वेदवादियों ने उसे मार दिया। फिर उन्होंने मन्त्रोच्चारण से वेन की दाहिनी जंघा का मंथन किया उससे पृथ्वी पर एक नाटे कद का मनुष्य उत्पन्न हुआ। इसके पश्चात् वेन की दाहिनी भुजा का मंथन किया, उससे देवराज इन्द्र के समान पुरुष उत्पन्न हुआ। वह कवच तथा कमर में तलवार बांने और बाण लिए प्रकट हुआ। उसे

१. महाभारत शान्तिपर्व ५९/१५-२९ पृ० १२३

वेदों का पूर्ण ज्ञान था। वेन कुमार की समस्त दण्डनीति का उसे स्वतः ही ज्ञान प्राप्त हो गया। उसने हाथ जोड़कर सभी महर्षियों से कहा कि धर्म और अर्थ का दर्शन कराने वाली अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि मुझे प्राप्त हुई है, मुझे इस बुद्धि का क्या उपयोग करना चाहिए ? बताइये। तब महर्षियों ने कहा कि जिस कार्य में नियमपूर्वक धर्म की सिद्धि होती हैं, उसे निर्भय होकर करो। समस्त प्राणियों के प्रति समभाव रखो। जो व्यक्ति धर्म से विचलित होता हो उसे अपने बाहुबल से परास्त कर दण्ड दो। इसके साथ ही यह प्रतिज्ञा करो कि मैं मन, वचन, काया से ब्रह्म (वेद) का निरन्तर पालन करूँगा। वेनकुमार ने इस प्रकार प्रतिज्ञा की, फिर शुक्राचार्य उनके पुरोहित बनाये गये, जो वैदिक ज्ञान के भण्डार थे। तत्पश्चात् विष्णु, देवताओं सहित इन्द्र, ऋषि समूह, प्रजापतिगण तथा ब्राह्मणों ने पृथु का (वेनकुमार) राजपद पर अधिषेक किया।[1]

उपर्युक्त दोनों ही सिद्धान्त इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि राजा की उत्पत्ति से पूर्व समाज में अव्यवस्था तथा अराजकता व्याप्त थी। लोभ, मोह, काम, राग आदि प्रवृत्तियों ने उग्र रूप ले लिया था। जिसके फलस्वरूप प्रजा बहुत दु;खी हुई, और अंत में परमेश्वर-नियुक्त राजा द्वारा ही समाज में शान्ति स्थापित हो सकी। इस प्रकार महाभारत में सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त का वर्णन मिलता है। अर्थशास्त्र में इसका वर्णन इस प्रकार मिलता है कि जब प्रजा मत्स्य-न्याय से पीड़ित हुई तब उन्होंने मनु को अपना राजा बनाया। राजा की सेवाओं के बदले में उन्होंने सुवर्ण आदि का दसवां भाग तथा धान्य का छठा भाग कर के रूप में देने का निर्णय किया। इसके उपरान्त मनु ने प्रजा की रक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया।[2] महाभारत आदि में ब्रह्मा द्वारा राजा की नियुक्ति का वर्णन है, किंतु कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राजा की नियुक्ति ब्रह्मा या विष्णु द्वारा नहीं, अपितु इस प्रकार का वर्णन मिलता है कि प्रजा ने स्वयं राजा का निर्वाचन किया था।[3]

---

१. महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय ५९, श्लो० ८७-११५.
२. कौटिल्य अर्थशास्त्र १/१३ पृ० ३५
३. वही

जैन पुराण साहित्यिक ग्रंथों में राजा की उत्पत्ति का जो वर्णन किया गया है वह निम्नलिखित है :—

जैन मतानुसार पुराणों में राजा की उत्पत्ति का विस्तार से वर्णन किया गया है। जैन पौराणिक ग्रंथों में बताया गया है कि राजा की उत्पत्ति से पूर्व समाज में कुलकर व्यवस्था थी। कुलकर व्यवस्था से पूर्व न समाज था, न कुल था, न जाति और न वर्ग थे। कुलकर व्यवस्था से पूर्व जनसंख्या कम थी तथा आवश्यकताएँ भी सीमित थीं। दस प्रकार के कल्पवृक्षों द्वारा आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती थी। उस समय मानव स्वभाव से शान्त प्रकृतिवाला, शरीर से स्वस्थ और स्वतंत्र जीवनयापन करने वाला था, वह न किसी की सेवा करता और न ही किसी से सेवा, सहयोग करवाता था। धर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। उस समय न सेवक था, स्वामी। सभी समान अधिकार रखते थे। वर्ण-व्यवस्था भी उस समय नहीं थी। चोरी, लूट, खसोट, हत्याएँ आदि भी नहीं होती थीं। वह युग स्वर्ण-युग कहलाता था। लेकिन यह स्वर्णिम-युग अधिक समय तक नहीं रहा। कालचक्र के छह आरों में से तीसरे आरे में एक पल्योपम का आठवां भाग अवशेष रहने पर सहज समृद्धि का ह्रास होने लगा। युगलिकों के शरीर का प्रमाण घटने लगा। एक ओर आवश्यकता पूर्ति के साधन कम होने लगे, दूसरी तरफ जनसंख्या में वृद्धि होने लगी। साथ ही कल्पवृक्षों की शक्ति क्षीण होने लगी। जो व्यक्ति पहले तीन दिन पश्चात् भोजन करते थे अब प्रतिदिन भोजन करने लगे।

उपर्युक्त परिस्थितियों ने मानव स्वभाव में परिवर्तन ला दिया। ज्योंही जीवन की थोड़ी आवश्यकताएँ बढ़ीं, उनके निर्वाह के साधन दुर्लभ हुए कि लोगों में संग्रह और अपहरण की भावना उभर आई। अपराधी मनोवृत्तियाँ पनपने लगीं। समाज में अराजकता व्याप्त हो गयी, व्यक्ति आपस में संघर्ष करने लगे। इस प्रकार फैली हुई अराजकता ने एक नई व्यवस्था की प्रेरणा दी, जो कि कुलकर व्यवस्था कहलाई। इस व्यवस्था के अनुसार लोग कुल बनाकर रहने लगे। उन कुलों का एक मुखिया होता था जो कि कुलकर कहलाता था। वे सर्वसत्ताधीश होते थे। यही नियम-उपनियम बनाकर कुलों का संरक्षण करते थे। यह सब कुलों को धारण करने से कुलकर नाम से प्रसिद्ध हुए।

जैन मान्यतानुसार सात और चौदह कुलकरों का उल्लेख हुआ है। जिनका वर्णन हम आगे कर चुके हैं। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में १४ कुलकरों का उल्लेख आया है।[1] इन कुलकरों में से प्रथम पाँच कुलकरों की "हक्कार" दण्डनीति थी और छठे कुलकर से दसवें कुलकर तक "मक्कार" दण्डनीति प्रचलित थी। ग्यारहवें से पन्द्रहवें ऋषभस्वामी तक "धिक्कार" दण्डनीति प्रचलित थी। (ऋषभ स्वामी को कुलकर भी माना गया है।) दण्डनीतियों के बारे में विस्तृत जानकारी हम अगले अध्याय में देंगे।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के अनुसार समय ने करवट ली। आवश्यकता पूर्ति के साधन सुलभ नहीं रहे। यौगलिकों में क्रोध, मान, माया, लोभ की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। हाकार: माकार: दण्डनीतियों का पूर्ण रूप से उल्लंघन हो गया और जब अन्तिम कुलकर नाभिराज के समय प्रचलित हुई "धिक्कार" दण्डनीति का प्रजा उल्लंघन करने लगी तथा कल्पवृक्षों से प्रकृति सिद्ध जो भोजन प्राप्त होता था वह अपर्याप्त हो गया। जीवकोपार्जन का कोई साधन अवशेष नहीं रहा तब युगलिक लोग घबराने लगे। ऐसी स्थिति में इन्द्र महाराज ने अयोध्यापुरी आकर ऋषभस्वामी का राज्याभिषेक किया।[2] तित्थोगाली पडन्नय के अनुसार जब अनेक यौगलिक लोग नीति का उल्लंघन करने लगे तो प्रमुख लोगों ने ऋषभदेव के सम्मुख जाकर निवेदन किया (अर्थात् अपनी स्थिति का परिचय कराया) ऋषभदेव ने कहा कि नीति का अतिक्रमण करने वालों को राजा दण्ड देता है। यह सुनकर युगलिकों ने कहा कि "हमारा भी राजा हो।" ऋषभ स्वामी ने कहा—"तुम कुलकर नाभिराज से जाकर माँग करो।" यौगलिकों द्वारा कुलकर नाभि के समक्ष राजा की माँग किए जाने पर उन्होंने कहा कि "ऋषभ तुम्हारा राजा हो।"[3] अवधिज्ञान के उपभोग से यह सब वृतान्त जानकर इन्द्र वहाँ उपस्थित हुआ। देवराज ने भगवान ऋषभदेव को नरेन्द्रों के योग्य मुकुटादि सभी अलंकारों से विभूषित कर उनका राज्याभिषेक किया।[4] यौगलिक पुरुष भगवान् ऋषभदेव के राज्याभिषेक के लिये विसिनि (अर्थात् नलिनी) पत्रों में पानी लेकर आये। तब उन्होंने

१. **जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति** वक्ष० २० पृ० ११८.
२. **तित्थोगाली पइन्नय** पृ० ८४ गा० २८३.
३. वही गा० २८४
४. **तित्थोगाली पइन्नय** पृ० ८४ गा० २८५

ऋषभदेव को वस्त्राभूषणों से अलंकृत देखकर केवल उनके चरण-कमलों पर ही पानी डाल दिया और अभिषेक की प्रक्रिया को सम्पन्न किया। इन्द्र ने यह देखकर हर्षित हो साधुवाद देते हुए कहा, बहुत सुन्दर। ये बहुत विनीत पुरुष हैं। इस प्रकार उनके विनय को देखकर इन्द्र ने नव-निर्मित नगरी का नाम विनीता रखा। आवश्यक निर्युक्ति के अनुसार जब यौगलिक लोगों के जीवकोपार्जन का कोई साधन नहीं रहा तब वह घबराकर ऋषभदेव के पास पहुंचे और हाथ जोड़कर नमस्कार कर विनम्र भाव से अपनी वस्तुस्थिति का परिचय कराया और सहयोग की याचना करने लगे। तब ऋषभस्वामी ने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा कि अपराधी मनोवृत्ति न पनपे तथा मर्यादा का यथोचित पालन हो सके, इसके लिए दण्ड-व्यवस्था होती है। जिसका कि संचालन स्वयं राजा करता है। लेकिन राजा का पहले राजपद पर अभिषेक किया जाता है।[1]

यह सुनकर यौगलिक लोगों ने कहा कि स्वामी आप ही हमारे राजा बन जाइये। इस पर ऋषभस्वामी ने कहा कि तुम नाभिकुलकर के पास जाओ और राजा की माँग करो, वह तुम्हें राजा देंगे। यह सुन यौगलिक जब नाभि कुलकर के पास गये और विनम्र भाव से वंदन कर वस्तुस्थिति का परिचय कराया। नाभि कुलकर ने यौगलिकों की विनम्र भावना को सुना और कहा कि मैं तो अब वृद्ध हो चुका हूँ अतः तुम लोग ऋषभ को राजपद देकर अपना राजा बना लो।[2]

नाभि कुलकर की आज्ञा प्राप्त कर यौगलिक जन बहुत प्रसन्न हुए और ऋषभस्वामी का अभिषेक करने के लिए जल लेने पद्म सरोवर पर गये और कमल के पत्तों में जल लेकर आए। इसी बीच इन्द्र का आसन चलायमान हुआ। इन्द्र ने अवधिज्ञान से देखा और सर्वऋद्धि सहित सभी लोकपाल, देवगणों के साथ आया और ऋषभ स्वामी का राज्याभिषेक किया, और उन्हें राजा योग्य आभूषणों से विभूषित किया।[3] जब यौगलिक

---

१. आवश्यक नि० पृ० ५५ गा० १९७

२. वही गा० १९८

३. आ० नि० पृ ५६ गाथा १९९, आ० चूर्णी पृ० १५४
त्रि० ब० पु० च० पर्व १ सर्ग २ पृ० १९८

जन आये और उन्होंने भगवान को सर्व अलंकारों से विभूषित देखा तब मन में विचार किया कि इस प्रकार अलंकारों से विभूषित भगवान के ऊपर किस प्रकार पानी डाले, इसलिये उन्होंने ऋषभस्वामी के पैरों पर ही जल डालकर अभिषेक किया, जिससे कि अलंकार खराब न हों। यह देख इन्द्र बहुत प्रसन्न हुआ और कहा कि ये लोग तो बहुत विनीत हैं इसलिए उसी समय कुबेर को बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी विनीता नाम की नगरी बसाने की आज्ञा दी। कुवेर ने उसी समय बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी विनीता नाम की नगरी बसाई। जिसका कि दूसरा नाम अयोध्या भी रखा गया।[1] इस प्रकार सर्वप्रथम राजधानी विनीता हुई।

जैन ग्रंथकार जिनसेन ने भी अपने महापुराण ग्रंथ में सृष्टि के प्रारंभ का वैसा ही वर्णन किया है जैसा कि पूर्व दिया गया है। राजा की उत्पत्ति के विषय में जिनसेन ने कहा है कि संसार की अराजक स्थिति से त्रासित यौगलिकजन जीवित रहने की इच्छा से पहले नाभिराज के समीप पहुंचे। तत्पश्चात् ही नाभिराज की आज्ञा से भगवान वृषभ देव के समीप पहुंचे और मस्तक झुकाकर नमस्कार किया और भगवान से निवेदन किया कि हे देव हम जीविका प्राप्त करने की इच्छा से आपकी शरण में आये हैं। अन्न और पानी से रहित हम अब एक पल भी नहीं रह सकते हैं। शीत-ताप, महाताप, महावायु और वर्षा का उपद्रव हमको बहुत दुःखी कर रहा है। इसलिए हे स्वामी हमें इनके दूर करने के उपाय बताइये।[2]

इस प्रकार प्रजाजनों के दीन वचन सुनकर भगवान आदिनाथ ने सोचा कि प्रजा की असि, मसि, कृषि आदि छः कर्मों के द्वारा आजीविका करना उचित है। और क्षण-भर में प्रजा के कल्याण करने वाली आजीविका का उपाय सोचकर उन्हें बार-बार आश्वासन दिया कि तुम भयभीत मत होओ। इस प्रकार भमवान के स्मरण मात्र से देवों सहित इन्द्र उपस्थित हुआ। और प्रजा की आजीविका के उपाय किये। शुभ दिन, शुभ नक्षत्र, शुभ मुहूर्त और शुभ लग्न में सर्वप्रथम इन्द्र ने मांगलिक कार्य किया और फिर उसी अयोध्यापुरी में बीचों-बीच जिन मन्दिर की

१. आ० नि० गाथा २००

२. **जिनसेन विरचित महापुराण १६/१३१-१३९ पृ० ३५८.**

रचना की ।[1] इसके पश्चात् कोशल आदि महादेश, अयोध्या आदि नगर और वन और सीमा सहित गाँव तथा खेड़ों आदि की रचना की । सुकोशल, अवन्ती, पुण्ड्र, उंड्र, अश्मक, रम्यक, कुरू, काशी, कलिङ्ग, अङ्ग, वङ्ग, सुह्म, समुद्रक, काश्मीर, उशीनर, आनर्त, वत्स, पंचाल, मालव, दशार्ण, कच्छ, मगध, विदर्भ, कुरू जांगल, करहाट, महाराष्ट्र, सुराष्ट्र, आमीर, कोंकण, वनवास, आंध्र, कर्णाट, कोशल, चोल, केरल, दारु, अभिसार, सौवीर, शूरसेन, उपरान्तक, विदेह, सिंधु, गान्धार, यवन, चेदि, वल्लव, काम्बोज, आरट्ट, वाल्हीक, तुरुष्क, शक और केकय इन देशों की रचना की तथा इनके अलावा और भी अनेक देशों का विभाग किया ।[2]

देशों की अन्तिम सीमाओं पर अन्तपाल अर्थात् सीमा-रक्षक पुरुष नियुक्त किये थे । उन देशों के बीच और भी अनेक देश थे जो लुब्धक, आरण्य, चरट, पुलिन्द, शबर तथा मलेच्छ जाति के लोगों द्वारा रक्षित रहते थे । उन देशों के मध्य में कोट, प्रकाट, परिखा, गोपुर, और अटारी आदि राजधानी थी । ऐसे राजधानीरूपी किले को घेरकर सब ओर शास्त्रोक्त लक्षण वाले गाँवों आदि की रचना हुई थी ।[3]

इस प्रकार इन्द्र ने बड़े अच्छे ढंग से नगर, गाँवों आदि का विभाग किया था । इस प्रकार इन्द्र ऋषभ देव की आज्ञा से नगर, गाँव आदि स्थानों में प्रजा बसाकर स्वर्ग चला गया ।[4] इसके पश्चात् भगवान वृषभ-देव ने अपनी बुद्धि की कुशलता से प्रजा के लिए असि, मसि, कृषि आदि छह कर्मों द्वारा आजीविका करने का उपदेश दिया था । (सेवा करना असि कर्म, लिखकर आजीविका करना मसि कर्म, जमीन को जोतना-बोना कृषि कर्म, शास्त्र आदि पढ़ाकर अथवा नृत्य-गायन आदि सिखाकर आजीविका करना विद्या कर्म, व्यापार करना वाणिज्य कर्म और हस्त की कुशलता से जीविका करना शिल्प कर्म कहलाता था ।[5]

---

१. वही १६/१५० पृ० ३५९.

२. **महापुराण** १६/१५२-१५६ पृ० ३६०

३. वही १६/१६३ पृ० ३६०

४. **महापुराण** १६/१७८ पृ० ३६२

५. वही

इसी प्रकार ऋषभदेव ने तीन वर्णों की स्थापना भी की थी। जो शास्त्र धारण कर आजीविका करते थे, उन्हें ऋषभदेव स्वामी ने "क्षत्रिय वर्ण" की संज्ञा दी। जो खेती, व्यापार और पशुपालन द्वारा आजीविका करते थे उन्हें "वैश्य" की संज्ञा दी और जो उनकी सेवा करते थे उन्हें "शूद्र वर्ण" की संज्ञा दी।[1]

इस प्रकार युग के कर्त्ता भगवान ऋषभदेव ने कर्मयुग का आरम्भ किया। इसलिए पुराण्कारों ने उनका कृतयुग नाम दिया है। ऋषभदेव कृतयुग का प्रारम्भ करके प्रजापति कहलाने लगे थे।

जब छह् कर्मों की व्यवस्था से प्रजा कुशलतापूर्वक रहने लगी तब इन्द्र सहित देवों ने आकर ऋषभस्वामी का सम्राट पद पर अभिषेक किया और राजायोग्य अलंकारों से विभूषित किया। नगर-निवासी लोगों ने भी कमल के बने हुए दोने से और किसी ने मिट्टी के घड़े में सरयू नदी का जल लेकर भगवान के चरणों का अभिषेक किया।[2]

कर्म-भूमि की रचना करने वाले भगवान ऋषभदेव ने राज्य पाकर महाराज नाभिराज के समीप ही प्रजा के पालन करने के लिए प्रजा के विभाग आदि करके उसकी आजीविका के नियम बनाये, जिससे प्रजा अपनी मर्यादाओं का उल्लंघन न कर सके। इस प्रकार ऋषभ स्वामी प्रजा पर शासन करने लगे।[3]

हरिवंश पुराण के अनुसार भी सृष्टि की रचना तथा राजा की उत्पत्ति से पूर्व की दशा जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, आवश्यकचूर्णी और महापुराण के समान ही है। राजा की उत्पत्ति के विषय में यहाँ यह कहा गया है कि जब बहुत भारी व्यथा से पीड़ित समस्त प्रजा नाभिराज के सम्मुख पहुंची और फिर वहाँ से प्रेरित हो भगवान ऋषभदेव के पास पहुंची और मस्तक झुकाकर कहने लगी कि हे देव—कल्पवृक्ष नष्ट हो गये हैं जो कि हमारी आजीविका के साधन थे। इसके पश्चात् इक्षुरस साधन हुए लेकिन वह भी अब रसविहीन हो गये हैं। अब फलों के भार से झुके हुए नाना

---

१. वही १६/१८४-८५ पृ० ३६२.

२. महा पु० १६/१२५ पृ० ३६६.

३. वही १०/२४१-२४२ पृ० ३६८.

प्रकार के वृक्ष दिखाई देते हैं लेकिन हम नहीं जानते कि उनसे अन्न किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए हे स्वामी क्षुधा की तीव्र पीड़ा से ग्रस्त इस प्रजा की रक्षा कीजिये।

इस प्रकार प्रजा की दीन प्रार्थना को सुनकर, वृषभस्वामी ने समस्त प्रजा की जो कि भूख से व्याकुल थी, देव दिव्य आहार से पीड़ा दूर की। पश्चात् आजीविका निर्वाह के उपाय तथा धर्म, अर्थ और काम रूप साधनों का उपदेश दिया। इसके अलावा, असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प-कला का भी उपदेश दिया और यह भी कहा कि गाय, भैंस आदि पशुओं की रक्षा करनी चाहिए तथा सिंह आदि हिंसक पशुओं और दुष्ट जीवों का परित्याग करना चाहिए।

इसके पश्चात् भगवान ने अपने सौ पुत्रों को कला शास्त्र सिखाया जिसके द्वारा लोगों ने सैकड़ों लिपि वनाकर उन्हें अपनाया। शिल्पीजनों ने भरत क्षेत्र की भूमि पर सव जगह गाँव, नगर तथा खेट, कर्वट आदि की रचना की। उसी समय क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि वर्ग भी उत्पन्न हुए। ऋषभदेव ने अपनी पुत्री ब्राह्मी और सुन्दरी को भी विविध प्रकार की कलाओं में पारंगत किया।

जब असि, मसि, कृषि आदि छह कर्मों से प्रजा सुख का अनुभव करने लगी उसी समय इन्द्र सहित देवों ने आकर भगवान् वृषभ देव का राज्याभिषेक किया। उस समय अयोध्या नगरी को खूब सजाया गया था।

जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति, आवश्यकचूर्णि, जिनसेन विरचित महापुराण, हरिवंश पुराण आदि में राजा की उत्पत्ति के विषय में कुछ भिन्नता दृष्टि-गोचर होती है। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, तित्थोगाली पइन्नय आवश्यक नियुक्ति चूर्णि में असि, मसि, कृषि आदि छह कर्मों की व्यवस्था से पूर्व ही ऋषभ स्वामी का इन्द्र द्वारा राज्याभिषेक बताया गया है, तत्पश्चात् असि, मसि, कृषि आदि छह कर्मो का उपदेश दिया गया है। लेकिन महापुराण, हरिवंश पुराण आदि में पहले जीविका उपार्जन के उपाय बताकर राजा का अभिषेक किया गया है। असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य, शिल्प का उद्देश्य पूर्व में ही दिया गया है। हरिवंश पुराण में एक भिन्नता यह भी है कि जब समस्त प्रजा ऋषभ स्वामी के पास आई और अपनी वस्तुस्थिति

का परिचय कराया, तब दयालु ऋषभदेव भगवान ने देव दिव्य आहार से सबकी पीड़ा दूर की। पश्चात् आजीविका-निर्वाह के सर्व उपाय तथा धर्म, अर्थ और काम का उपदेश दिया।

उपर्युक्त भिन्नता होते हुए भी भूल में सभी सिद्धान्त समान हैं। सभी में राजा की उत्पत्ति से पूर्व की दशा का वर्णन एक जैसा है तथा सभी सिद्धान्तों में नाभि कुलकर की आज्ञा से प्रजा ने ऋषभ स्वामी को अपना राजा स्वीकार किया तथा इन्द्र द्वारा राज्याभिषेक का वर्णन किया गया है।

इस प्रकार जैन पौराणिक ग्रन्थों के अनुसार ऋषभदेव प्रथम राजा हुए हैं। जैन मान्यतानुसार राजा की उत्पत्ति के सिद्धान्त को हम सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त की कोटि में रख सकते हैं। क्योंकि जैन ग्रन्थों में भी राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में युगलिक जन, ऋषभ स्वामी तथा नाभि कुलकर के मध्य एक प्रकार से समझौता ही होता है जिसके फलस्वरूप नाभि कुलकर की आज्ञा से ऋषभदेव को राजपद पर आरूढ़ किया जाता है।

महाभारत और दीघनिकाय में राजा की उत्पत्ति तथा जैन पुराणों में राजा की उत्पत्ति में कुछ भिन्नता है वह यह है कि महाभारत और दीघनिकाय में राजा की सेवाओं के बदले प्रजा कर की व्यवस्था करती है, जैन ग्रंथों में इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। जैन मान्यतानुसार राजा अक्सर कुछ समय राज्य करने के पश्चात् अंत में श्रमण दीक्षा अंगीकार कर लेते थे।

३. देवी उत्पत्ति का सिद्धान्त :

राजा की उत्पत्ति का तीसरा सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार राजा की उत्पत्ति देवी (ईश्वर) रूप बतलायी गई है। यह सिद्धान्त हमको महाभारत, धर्म-शास्त्र एवं हिन्दू पुराणों में मिलता है। महाभारत में देव और नरदेव (राजा) दोनों समान ही हैं।[1] कहीं पर ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि "राजा को देवताओं द्वारा स्थापित हुआ मानकर कोई

---

१. महाभारत शान्तिपर्व ५६/१४४

उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता है। समस्त विश्व उसकी आज्ञा में रहता है। उसके ऊपर जगत का शासन नहीं चल सकता। महाभारत में यह भी कहा गया है कि राजा पृथु की तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान विष्णु स्वयं ने उनके अन्तर में प्रवेश किया था।[१] समस्त नरेशों में पृथु ही एक ऐसे राजा थे, जिनको सारा जगत देवता के समान मस्तक झुकाता था। इस प्रकार महाभारत में मनुष्य और देवताओं में कोई अन्तर नहीं बताया गया है। राजा ही समयानुसार पाँच रूप धारण करता है। वह कभी अग्नि, कभी सूर्य, कभी मृत्यु, कभी कुबेर, और कभी यम का रूप धारण कर लेता है।[२]

धर्म-सूत्रों में भी यही उल्लेख है कि विभिन्न देवताओं के अंश से राजा की रचना हुई। मनुस्मृति में लिखा है कि "ईश्वर ने समस्त संसार की रक्षा के लिए, इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर के सारभूत अंशों से राजा का सृजन किया।[३] मनुस्मृति में तो यह भी लिखा है कि राजा बालक हो तब भी उसका अपमान नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह मनुष्य रूप में देवता है।[४]

इसी प्रकार आचार्य शुक्र भी राजा की उत्पत्ति दैवी अंश में विश्वास करते हैं। हिन्दू पुराण में भी इस सिद्धान्त का स्पष्ट वर्णन मिलता है। मत्स्य पुराण के अनुसार संसार के प्राणियों की रक्षा के लिए ब्रह्मा ने विविध देवताओं के अंशों में राजा की सृष्टि की।[५] विष्णु पुराण में राजा वेन के मुख से इस प्रकार के शब्द प्रस्फुटित हुए हैं - ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, वरुण, धाता, पूषा, पृथ्वी और चन्द्र इनके अतिरिक्त और भी जितने देवता शाप देते हैं और अनुकम्पा करते हैं वे सभी राजा के शरीर में निवास करते हैं। इस प्रकार राजा सर्व देवमय है।[६] मार्कण्डेय

---

१. **महाभारत शान्तिपर्व** अ० ५६/१३५
२. वही अ० ५६/१२८
३. मनुस्मृति पृ० ३१८
४. वही पृ० ३१८
५. **नीतिवाक्यामृत में राजनीति** पृ० ६३
६. वही पृ० ६३

पुराण में राजा, अग्नि, इन्द्र, सोम, यम और कुबेर इन पाँच देवताओं के कार्यों को करता है। अग्नि पुराण में राजा को सूर्य, चन्द्र, वायु, यम, वरुण अग्नि, कुबेर, पृथ्वी तथा विष्णु आदि देवताओं का स्वरूप माना है। क्योंकि वह उनके समान आचरण करता है। भागवत पुराण में विष्णु, ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, वायु, वरुण आदि देवता राजा के शरीर में निवास करते हैं। वायु पुराण में चक्रवर्ती राजा को विष्णु का अंश माना है। रामायण में भी राजा की उत्पत्ति दैवी स्वरूप बतलायी गई है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि जब राजा जिस देवता के स्वरूप का आचरण करता है, तब वह उसकी प्रतिमारूप (प्रतिमूर्ति) होता है, इसलिए राजा को दैवी अंश स्वीकार किया गया है।

राजा की उत्पत्ति का यह दैवी सिद्धान्त बहुत प्राचीन है। लेकिन इस सिद्धान्त का प्रचलन सिर्फ गुप्तकाल तक ही रहा।

राजा की उत्पत्ति के उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर हम कह सकते हैं कि जैन पौराणिक ग्रंथों में राजा की उत्पत्ति कुछ भिन्न प्रकार से ही बताई गई है। वैदिक सिद्धान्त और सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्तरूप जैन मान्यतानुसार राजा की उत्पत्ति में बहुत अन्तर है। इसका कारण यह हो सकता है कि वैदिक धर्म का उत्थान पश्चिम से हुआ है और जैन धर्म का उत्थान पूर्व दिशा से हुआ है। दोनों में समय काल की दृष्टि से भी बहुत अन्तर है। दैवी सिद्धान्त और जैन पौराणिक राजा की उत्पत्ति में भी बहुत अन्तर दृष्टिगोचर होता है। दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त राजा की उत्पत्ति दैवीय अंश में बतलाता है जबकि जैन पुराणों में राजा की उत्पत्ति दैवी अंश न होकर मानवीय रूप में बतलायी गई है। जैन पुराणों में राजा की उत्पत्ति के संदर्भ में ईश्वर रूप को स्वीकार नहीं किया गया है। जबकि हिन्दू पुराणों में ईश्वर को महत्ता प्रदान की गई है।

(III) राज्याभिषेक :–

प्राचीन काल में राज्याभिषेक खूब धूम-धाम से किया जाता था। राज्याभिषेक का उल्लेख जैन पुराणों तथा रामायण आदि ग्रन्थों में बहुत विस्तार से मिलता है।

जैनागम जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में भरत चक्रवर्ती के राज्याभिषेक का विस्तृत वर्णन किया गया है।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के अनुसार भरत चक्रवर्ती का अभिषेक करने के लिए भरत की आज्ञा से अभियोगिक देव विनीता राजधानी के उत्तरपूर्व दिग्भाग, ईशान कोण में चले गये। वहाँ जाकर वैक्रिय समुद्घात की विकुर्वणा करके संख्यात योजन लम्बा दण्ड बनाया। दूसरी बार समुद्घात करके बहुत ही समतल रमणीय भूमि की रचना की। उस समतल भूमि पर अभिषेक के लिए मंडप की रचना की फिर अभिषेक मंडप के बीच मे बहुत बड़ा अभिषेक पीठ बनाया, जो अत्यन्त स्वच्छ और चिकना था। उस अभिषेक पीठ की तीन दिशाओं में तीन सोपानों की रचना की। तत्पश्चात् उस बहुत ही सम और रमणीय भूमि के बीचों बीच में एक विशाल सिंहासन की विकुर्वणा की। इस प्रकार सम्पूर्ण तैयारी के पश्चात् भरत महाराजा हाथी पर आरूढ़ हुए तब उनके आगे-आगे आठ-मंगल, नवनिधि, सोलह हजार देव, बत्तीस हजार राजा आदि अनुक्रम से चलने लगे और जहाँ अभिषेक मंडप था वहाँ आकर रुके। हाथी से उतरकर भरत महाराजा ने स्त्री-रत्न के साथ, बत्तीस हजार ऋतु कल्याणियों के साथ, बत्तीस हजार जनपद कल्याणियों के साथ, बत्तीस-बत्तीस की समूह वाली बत्तीस हजार नाट्य मंडलियों के साथ अभिषेक मण्डप में प्रवेश किया। प्रवेश करके जिस ओर अभिषेक पीठ था वहाँ आकर अभिषेक पीठ की अनुप्रदक्षिणा करते हुए, आगे पीछे की प्रदक्षिणा करते हुए, पूर्व दिशा की सोपान सीढ़ियों पर चढ़े। और जिस ओर सिंहासन था वहाँ आकर पूर्व दिशा की ओर मुख करके बैठ गये।[1]

भरत राजा के पश्चात् बत्तीस हजार राजा जिस ओर अभिषेक मंडप है, उस ओर आकर अभिषेक पीठ की प्रदक्षिणा करते हुए उत्तर की ओर के त्रिसोपान द्वारा जिस ओर भरत राजा बैठे थे, वहाँ आकर हाथ जोड़, मस्तक पर अंजलि करके भरत राजा की जय-विजय हो, ऐसे बधाते हुए भरत राजा के न अति दूर न अति पास पर्युवासना करते हैं। (अर्थात् बैठते हैं) इसके पश्चात् सेनापतिरत्न, सार्थवाह आदि भी इसी प्रकार दक्षिण बाजू के त्रिसोपान पर प्रवेश करके बैठ जाते है।[2]

तत्पश्चात् शुभ तिथि, करण, दिवस, नक्षत्र, मुहूर्त आने पर उत्तर भाद्रपद नक्षत्र (प्रोष्ठ पाद) से विजय-मुहूर्त में बत्तीस हजार राजा उत्तम

---

१. **जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति** पक्ष ३ पृ० २८१.

२. वही पृ० २८२.

कमलों पर रखे हुए एवं उत्तम सुगंधित जल से भरे हुए कलशों द्वारा बड़ी धूम-धाम से महाराजा भरत का अभिषेक करते हैं।[1] बाद में फिर राजा, महाराजा, सेनापति, पुरोहित, अठारह श्रेणी, प्रश्रेणी, सोलह हजार देव, वणिक आदि भी भरत राजा का सुगंधित जल से अभिषेक करते हैं, और जय-जयकार की घोषणा करते हैं। पश्चात् रोंयेदार कोमल और सुगंधित तौलिये से उनका शरीर पोंछकर, मालाएँ और विविध आभूषणों से उन्हें सजाया गया, और उपस्थित जन-समूह द्वारा राजमुकुट पहनाया गया।[2]

इस प्रकार बड़े धूम-धाम से अभिषेक हो जाने के पश्चात्, इस मंगल अवसर पर भरत महाराजा की आज्ञा से नागरिकों का कर माफ कर दिया गया और बारह वर्ष तक नगर में प्रमोद उत्सव मनाया गया था।

महापुराण में भगवान ऋषभदेव के राज्याभिषेक का बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है। इसके अनुसार राज्याभिषेक से पूर्व पृथ्वी के मध्यभाग में मिट्टी की वेदी बनाई गई, उस वेदी पर देवों ने बहुमूल्य आनन्द मण्डप का निर्माण किया जो रत्नों के चूर्ण समूह से बनी हुई रंगावली से चित्रित हो रहा था। समीप में ही बड़े-बड़े मंगलद्रव्य रखे गये थे, देवों की अप्सराएँ अपने हाथों से चमर ढुला रही थीं। ऐसे मण्डप में योग्य सिंहासन पर पूर्व दिशा की ओर मुख करके भगवान ऋषभदेव को बैठाया, और जब गन्धर्व देवों के द्वारा प्रारम्भ किये संगीत के समय होने वाला मृदंग का संगीत स्वर चारों ओर व्याप्त हो रहा था तथा नृत्य करती हुई देवांगनाओं के संगीत के स्वर में स्वर मिलाकर किन्नर जाति की देवियाँ कानों को सुख देनेवाला भगवान का यश गा रही थीं। उस समय देवों ने तीर्थोदक से भरे हुए सुवर्णों के कलशों से भगवान ऋषभदेव का अभिषेक करना प्रारम्भ किया। भगवान का राज्याभिषेक करने के लिए गंगा, सिंधु दोनों महानदियों का जल लाया गया था। इसके अलावा गंगा कुण्ड, सिंधु कुण्ड, पद्मसरोवर, नन्दीश्वर द्वीप, क्षीरसमुद्र, नंदीश्वर-

---

१. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति पक्ष ३ पृ० २८४.

२. वही पृ० २८५.

समुद्र तथा स्वभूरमण समुद्र का जल भी स्वर्ण कलशों में भरकर लाया गया था।[1]

इस प्रकार ऊपर कहे हुए जल से भगवान का अभिषेक किया गया था। देवगणों के द्वारा अभिषेक हो जाने के पश्चात् नाभिराजा को आगे लेकर के, जो बड़े-बड़े राजा थे सभी ने मिलकर ऋषभदेव का अभिषेक किया। इसके पश्चात् नगर निवासियों ने सरयू नदी का जल लाकर भगवान के चरणों का अभिषेक किया। अभिषेक हो जाने के बाद भगवान को न अधिक गर्म और न अधिक ठण्डे जल से स्नान कराया गया, बाद में स्वर्ग से लाये हुए नाना प्रकार के वस्त्र और आभूषणों से अलंकृत किया गया।[2] जब सम्पूर्ण अलंकारों से भगवान विभूषित हो गये तब नाभिराजा ने "महामुकुटबद्ध राजाओं के अधिपति भगवान ऋषभदेव ही हैं," यह कहते हुए अपने मस्तक का मुकुट उतारकर भगवान के मस्तक पर धारण किया था।[3]

राज्याभिषेक के समय अयोध्यापुरी को खूब सजाया गया था। मकानों के अग्र भाग पर लगी हुई पताकाओं से आकाश भर गया था। उस समय राज-मंदिरों में बड़ी धूम-धाम से आनंद-भेरियाँ बज रही थीं, स्त्रियाँ मंगलगान गा रही थीं, और देवांगनाएँ नृत्य कर रही थीं। देवों के बन्दीजन मंगलों के साथ-साथ भगवान के पराक्रम को पढ़ रहे थे और देवलोग संतोष से "जय जीव" इस प्रकार की घोषणा कर रहे थे।[4]

त्रिषष्टि शलाका पुरुषचरित्र में सगर के राज्याभिषेक का भी वर्णन आता है। सगर का अभिषेक करने के लिए सभी राजाओं में श्रेष्ठ अजितनाथ स्वामी ने तीर्थजल लाने के लिए नौकरों को आज्ञा दी थी। वह शीघ्र ही कमल के ढके हुए कुंभ में स्नान करने योग्य तीर्थजल लेकर वहाँ आ गए। व्यापारी लोग राज्याभिषेक के दूसरे साधन तत्काल ही वहाँ ले आए। मंत्री, सेनापति और बन्धु-बान्धव भी शीघ्र ही एकत्र हो

---

१. महा पु० १६/२०६-२१५ पृ० ३६४-३६५.

२. वही १६/२३१ पृ० ३६६.

३. महा पु० १६/२३१, पृ० ३६६.

४. वही १६/१६७-१६८ पृ० ३६१.

गये। इस अवसर पर नादों से शिखरों को गुंजाते हुए शंख बजने लगे मेघ के समान मृदंग बजने लगे, दुंदुभि और ढोलों की ध्वनि गूँजने लगी। चारण, भाट और ब्राह्मण आशीर्वाद देने लगे। इस प्रकार महोत्सव के साथ अजितस्वामी की आज्ञा से कल्याणकारी पूर्वोक्त अधिकारियों ने विधिपूर्वक सगर राजा का राज्याभिषेक किया। (अभिषेक का वर्णन पूर्वानुसार जान लेना चाहिए।) इस अवसर पर नगर के मुख्य पुरुष हाथों में उत्तम भेंट लेकर सगर राजा के पास आए, और उनके सम्मुख रखकर प्रणाम किया।[1]

सनत्कुमार चक्रवर्ती के राज्याभिषेक के अवसर पर उन्हें हार, वनमाल, छत्र, मुकुट, पादुकायुग्म और पादपीठ भेंट किये गये थे।[2]

ज्ञाताधर्मकथांग में मेघकुमार के राज्याभिषेक का बहुत ही अच्छा वर्णन आता है। हालांकि मेघकुमार संसार त्याग कर दीक्षा ग्रहण करने वाला था, परन्तु माता-पिता की आज्ञा से एक दिन के लिए राज-सम्पदा का उपभोग करने के लिए तैयार हुआ था। अनेक गणनायक, दण्डनायक आदि से परिवृत हो, उन्हें, सोने, चाँदी, मणि, मुक्ता आदि के आठ-आठ सौ कलशों में सुगंधित जल भरकर उन्हें स्नान कराया था। सभी प्रकार की मृत्तिका से, पुष्प, गंध, माल्य, औषधि और सरसों से उन्हें परिपूर्ण करके सर्वसमृद्धि, द्युति तथा सर्व सैन्य के साथ दुंदुभि के निर्घोष की प्रतिध्वनि के शब्दों के साथ उच्चकोटि के राज्याभिषेक से अभिषक्त किया।[3]

राज्याभिषेक हो जाने के पश्चात् समस्त प्रजा राजा को बधाई देने के लिए आती है।

चम्पा, मथुरा, वाराणसी, श्रीवात्ती, साकेत, कापिल्य, कौशाम्बी, मिथिला, हस्तिनापुर और राजगृह इन नगरियों को अभिषेक राजधानी कहा गया है। जैन मान्यतानुसार प्राय: राज्याभिषेक के समय कैदियों को

---

१. **त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित्र:** हेमचन्द्र विरचित, अनु० श्री कृष्णलाल वर्मा, बम्बई : मानद मंत्री श्री ज्ञान समिति, पर्व २, ३/१६३-१७७, पृ० ६०६-६११.

२. **उत्तराध्ययन टीका** अ० ८.

३. **ज्ञाताधर्मकथांग** : सम्पा० पं० शोभाचन्द भारिल्ल, अहमदनगर, जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी, १९६४, पृ० ७५.

छोड़ दिया जाता था, तथा सभी नागरिकों को करमुक्त कर दिया जाता था।

रामायणकालीन राज्याभिषेक प्राणाली में राज्याभिषेक का सारा प्रबन्ध राजपुरोहितों के हाथ में रहता था।[1] हवन, अभिषेक, तथा अन्य कार्यों के लिए आवश्यक सामग्री का पहले ही प्रबन्ध कर लिया जाता था। स्वस्ति वाचन करने वाले ब्राह्मणों के लिए आसन, दक्षिणा आदि की व्यवस्था रहती थी। अभिषेक से एक दिन पूर्व राजकुमार तथा उसकी पत्नी को उपवास रहता था, और वह ब्रह्मचर्य पूर्वक भगवान नारायण की पूजा और हवन करते थे। राज्याभिषेक के दिन प्रातः काल में ब्राह्मणों को मंदिरों या सार्वजनिक स्थानों पर दही, दूध, घी मिश्रित भोजन कराया जाता था, तथा प्रचुर मात्रा में दान, दक्षिणा दी जाती थी। नगर में चारों ओर ध्वजा, पताकाएँ फहरायी जाती थीं।

सभा के सदस्य, प्रमुख व्यापारी, नागरिक, संघों के प्रधान, सामन्त राजा, मंत्रिगण, सैनिक, अधिकारी तथा राजकीय कर्मचारी यह सब संस्कार प्रारम्भ होते ही राजप्रसाद में आकर अपना आसन ग्रहण कर लेते थे। अभिषेक संस्कार प्रासाद की अग्निशाला में सम्पन्न होता था। पहले द्विजगण स्वस्ति वचन पूर्वक सपत्नीक राजकुमार को आशीर्वाद प्रदान करते, फिर वे दोनों हवन करते, तत्पश्चात् वह भद्रासन पर बैठते। फिर ब्राह्मण व ऋत्विज उनका मन्त्रोच्चारण पूर्वक पवित्र जल से अभिषेक करते, पश्चात् कन्याएँ, मंत्री, सैनिक अधिकारी और वैश्य लोग उनका अभिषेक करते थे। इसके बाद राजकुमार नवीन वस्त्र धारण करता, चन्दन लगाता और पत्नी सहित रत्नों से सुशोभित सुवर्णमय सभाभवन में आकर दर्शन देता था। फिर उसको समारोह पूर्वक राजपद पर प्रतिष्ठित किया जाता था। सिंहासन पर बैठने के पश्चात् सिर पर रत्नमय किरीट रखा जाता और श्वेत छत्र ताना जाता और चमर ढुलाये जाते थे। इस अवसर पर सामंत लोग विविध उपहारादि भेंट करते थे। राजा भी उपस्थित लोगों को पुरस्कार आदि देते थे। तत्पश्चात् नवनिर्मित राजा को पुष्परथ पर सवार करके नगर में जुलूस निकाला जाता था।[2]

---

१. **रामायणकालीन समाज** पृ० २६४.

२. **रामायण कालीन समाज** पृ० ३६५.

युवराज और उसका उत्तराधिकारी :—

प्रशासन को सुव्यवस्थित ढंग से चलाने के लिए राज्य में युवराज का होना आवश्यक बताया गया है। अभिषेक से पूर्व की अवस्था को युवराज कहा गया है। जैन पुराणों के अनुसार राजा का पद साधारणतया वंश परम्परागत होता था। ऐसा ही उल्लेख रामायण में मिलता है। राजा की मृत्यु पश्चात् राजसिंहासन का अधिकारी राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही होता था। यदि किसी राजपुत्र के सौतेला भाई होता तो उनमें राज्य के कारण ईर्ष्या-द्वेष होने लगता और पिता की मृत्यु पश्चात् यह द्वेष भ्रातृघातक युद्धों में भी परिणत हो जाता था। यदि इस प्रकार की कोई घटना नहीं घटती तो राजपुत्र ही राजपद पर आसीन होता और उसके कनिष्ठ भ्राता को युवराजपद प्राप्त होता था।

जैन आगमों में सापेक्ष और निरपेक्ष दो प्रकार के राजाओं का उल्लेख आता है। सापेक्ष उसको कहते हैं जिसमें राजा अपने जीवन-काल में ही अपने ज्येष्ठ पुत्र को युवराज-पद दे देता था। निरपेक्ष राजा के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि राजा की मृत्यु के पश्चात् ही पुत्र को राजा बनाया जाता था।[1]

जैन मान्यतानुसार राजा के एक से अधिक पुत्र होने पर राजपद के लिए उनकी परीक्षा ली जाती थी, और जो राजकुमार परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता उसी को युवराज-पद पर अभिषिक्त किया जाता था। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि राजा की मृत्यु पश्चात् जिस राजकुमार को राजपद देने का निश्चय किया जाता और वह दीक्षा ग्रहण कर लेता ऐसी परिस्थिति में उसके कनिष्ठ भ्राता को राजगद्दी पर बैठाया जाता था। कभी-कभी दीक्षित राजकुमार संयम पालन करने में अपने को असमर्थ समझ वापिस लौट आते थे। ऐसी परिस्थिति में उसका भाई उसे राजसिंहासन पर बिठा देता और स्वयं उसका स्थान ग्रहण कर लेता था। उदाहरणस्वरूप साकेत नगरी में कुंडरीक नाम और पुंडरीक नाम के दो राजकुमार रहते थे। कुंडरीक ने श्रमण दीक्षा ग्रहण कर ली। पुंडरीक राज्य-सिंहासन

१. **व्यवहार भाष्य :** टीका माल्यगिरि, भावनगर, आत्मानन्द जैन सभा, १९२६, २/३२७.

पर आरूढ़ हुआ। कुछ समय पश्चात् कुंडरीक संयम पालन में अपने आपको असमर्थ समझ दीक्षा छोड़कर वापिस लौट आया। यह देखकर उसके भाई पुंडरीक ने उसे अपने पद पर बिठाकर स्वयं श्रमण धर्म में दीक्षित हो गया।[1]

कभी ऐसा भी होता था कि राजा युवराज का राज्याभिषेक कर स्वयं संसार त्याग की इच्छा व्यक्त करता, लेकिन युवराज भी राजा बनने से इन्कार कर देता और वह भी पिता के साथ दीक्षा ग्रहण कर लेता था। जैसे—चम्पानगरी में शाल नाम का राजा था। उसका महाशाल नाम का पुत्र था। जब शाल ने महाशाल को राज-सिंहासन पर बैठाकर स्वयं ने दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त की तब महाशाल ने राजपद लेने से इन्कार कर दिया। और अपने पिता के साथ वह भी दीक्षित हो गया।[2]

जब राजा और राजपुत्र दोनों ही दीक्षा ग्रहण कर लेते और उनके दूसरा पुत्र नहीं होता उस समय राजा की बहिन और उसका पुत्र राजपद के अधिकारी होते थे। उपर्युक्त कथा में शाल और महाशाल के दीक्षा ग्रहण कर लेने पर उनकी बहिन का पुत्र गग्गलि को राज-सिंहासन पर बैठाया गया था।[3]

जैन आगम पुराणों के अनुसार राज्यशासन में स्त्रियों बहुत कम भाग लेती थीं, क्योंकि उस समय स्त्रियाँ शासन-कार्य चलातीं तो पुरुषों की निंदा होती थी।

राजा के उत्तराधिकारी का प्रश्न : –

प्राचीन काल में अधिकतर राजपद, वंशपरम्परागत होता था। महाभारत तथा रामायण में ज्येष्ठ पुत्र को ही राजपद का भागी बताया गया था। मनु ने भी लिखा है कि ज्येष्ठ पुत्र अपने पिता से सब कुछ प्राप्त कर सकता है।[4] कौटिल्य ने भी लिखा है कि आपत्ति काल को छोड़कर

---

१. **ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र** अ० १९ पृ० ५७९.

२. **उत्तराध्ययन टीका** : शान्तिसूरि, बम्बई १९१६, अ० १०.

३. **उत्तराध्ययन टीका** : शान्तिसूरि, बम्बई १९१६, अ० १०

४. **मनुस्मृति** ९/१०९

ज्येष्ठ पुत्र को ही राजा बनाना श्रेयष्कर है ।[1] जैनागम पुराणों के अनुसार भी राजपुत्र को ही उत्तराधिकारी बनाया जाता था। यदि किसी राजा के पुत्र नहीं होता और दुर्भाग्यवश पुत्रविहीन राजा की मृत्यु हो जाती उस समय उत्तराधिकारी का प्रश्न बहुत ही जटिल हो जाता था। ऐसी परिस्थिति में किसको राजा बनाया जाय, कोई उपाय नहीं होने पर, मंत्रियों की सलाह से धर्मश्रवण आदि के बहाने साधुओं को राजप्रासाद में आमन्त्रित कर उनके द्वारा सन्तानोत्पत्ति करायी जाती थी ।[2]

दूसरा यह उपाय भी किया जाता था, जब पुत्रविहीन राजा की मृत्यु हो जाती, तब नगर में एक दिव्य घोड़ा घुमाया जाता था, और वह घोड़ा जिसके पास जाकर रुक जाता उसे ही राजपद पर अभिषिक्त कर दिया जाता था। इसके अलावा उत्तराधिकारी की खोज में पाँच दिव्य पदार्थ भी घुमाये जाते थे। जिसमें हाथी, घोड़ा, कलश, चमर ओर दण्ड होते थे। जब किसी पुत्रविहीन राजा की मृत्यु होती तब उत्तराधिकारी की खोज में इनको घुमाया जाता था। यथा पुत्रविहीन वेन्यातट के राजा की मृत्यु हो जाने पर मंत्रियों को चिन्ता हुई ।[3] उस समय वे हाथी, घोड़ा, कलश, चमर, और दण्ड इन पाँच दिव्य पदार्थों को लेकर किसी योग्य पुरुष की खोज में निकले थे। कुछ दूर जाने पर एक वृक्ष की शाखा के नीचे बैठे हुए मूलदेव के पास जाकर हाथी ने चिंघाड़ मारी, घोड़ा हिनहिनाने लगा, कलश में भरे हुए जल से उसका अभिषेक करने लगा, चमर सिर पर ढुलने लगा, और दण्ड उसके पास आकर ठहर गया। यह देखकर राज्य कर्मचारी जय-जयकार करने लगे, और मूलदेव को हाथी पर बैठाकर धूम-धाम से नगर में प्रवेश कराया तथा मंत्रियों और सामंतों ने उसे राजा घोषित किया ।[4]

---

१. **अर्थशास्त्र** १/७ पृ० ५३.

२. **बृहत्कल्पभाष्य** : टीका : मलयगिरि और क्षेमकीर्ति : पुष्पविजय, भावनगर आत्मानंद जैन सभा १९३३-३८, ४/४९५८

३. **उत्तराध्ययन टीका**, अ० ३.

४. **उत्तराध्ययन टीका** अ० ३.

राजा के प्रधान पुरुष :

जैन पौराणिक ग्रंथों में राजा के प्रधान पुरुषों का वर्णन किया गया है। जैन ग्रन्थों में राजा के प्रधान पुरुषों में राजा, युवराज, अमात्य, श्रेष्ठि और पुरोहित आते हैं। राजा को सर्वेसर्वा माना गया है। राजा के पश्चात् दूसरा नम्बर युवराज का आता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि राजा की मृत्यु के पश्चात् युवराज को राजपद पर अभिषिक्त किया जाता था। वह राजा का पुत्र, भाई अथवा अन्य कोई सगा-सम्बन्धी हो सकता है। युवराज अणिमा, महिमा आदि अठारह प्रकार के ऐश्वर्य से युक्त, बहत्तर कलाओं, अठारह देशी भाषाओं, गीत, नृत्य, तथा हस्ति-युद्ध, अश्वयुद्ध, मुष्ठियुद्ध, बाहुयुद्ध, लतायुद्ध, रथ युद्ध, धनुर्वेध आदि में वह निपुण होता था। युवराज का यह कर्त्तव्य होता था कि वह अपने समस्त कार्यों को करने के पश्चात् सभामण्डप में पहुंचकर राजकाज की देखभाल करे। राजकुमार को युद्धनीति की तथा सभी प्रकार की प्रारम्भ से ही शिक्षा दी जाती थी। जिससे कि वह समय पर अपने राजा की की मदद कर सकता था। कभी पड़ौसी राजा जब राज्य पर आक्रमण कर देते या उपद्रव फैला देते, उस समय युवराज पूर्ण रूप से राजा की मदद करता था तथा फैले हुए उपद्रबों को शान्त करता था। इसके अलावा और भी कार्यों में युवराज राजा का हांथ बँटाता था।

युवराज प्रायः राजा के पुत्र को ही बनाया जाता था। अगर किसी राजा के पुत्र नहीं होता या फिर युवराज पद के योग्य नहीं होता तब ऐसी परिस्थिति में राजा के भाई या अन्य सगे-सम्बन्धियों को युवराज बनाया जाता था।

राज्याधिष्ठान में अमात्य अथवा मंत्री का पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता था। वह अपने जनपद, राजा और नगर के विषय में सदा चिन्तित रहता था। व्यवहार तथा नीति में भी चतुर होता था। जैन मान्यतानुसार मंत्रियों में प्रथम राजा श्रेणिक के पुत्र अभय कुमार का नाम आता है। अभयकुमार मैत्री साम, दाम, दण्ड और भेद में कुशल, नीति-शास्त्र का पण्डित, गवेषणा आदि में चतुर, अर्थशास्त्र में, विशारद तभी औत्पत्तिकी,

वैनयिकी, कार्मिकी और पारिणमिकी नामक चार प्रकार की बुद्धियों में निष्णात था।[1]

अमात्य (मंत्री) राजा को समय-समय पर अच्छे-अच्छे कार्यों के लिए सलाह दिया करता था। राजा श्रेणिक तो अभयकुमार से अपने अनेक कार्यों और गुप्त रहस्यों के बारे में मन्त्रणा किया करते थे। अभयकुमार स्वयं ही राज्य (शासन), राष्ट्र (देश), कोश, कोठार (अन्न भण्डार), बल (सेना), वाहन (सवारी के योग्य हाथी, अश्व आदि), पुर (नगर) और अन्तःपुर की देखभाल करता था।[2] मंत्री का पद इतना महत्त्वपूर्ण होता था कि वह अयोग्य राजा को पदच्युत कर उसके स्थान पर दूसरे राजा को राजगद्दी पर बैठा देता था।

जिस प्रकार व्यवहार-नीति के कार्यों में सलाह करने के लिए मंत्री की आवश्यकता होती, उसी प्रकार धार्मिक कार्यों में सलाह लेने के लिये पुरोहितों का पद भी बड़ा सम्मानजनक होता था। जैन पुराणों के अनुसार राज्य में पुरोहित का महत्त्वपूर्ण स्थान होता था।[3] राज्य के रक्षार्थ पुरोहित की नियुक्ति परमावश्यक थी।[4] पुरोहित राजा को राज्य की भलाई के लिए परामर्श देता था और अनिष्ट कार्यों के निवारणार्थ योग क्षेम करता था।[5] पुरोहितों को सकल जनों से सम्मानित धर्म-शास्त्र का पंडित, लोकव्यवहार में कुशल नीतिवान, वाग्मी, अल्पारम्भ-परिग्रहवाला तथा तंत्र-मंत्र आदि का वेत्ता होना चाहिए।[6] अर्थशास्त्र के अनुसार पुरोहित को शास्त्र प्रतिपादित विद्याओं से युक्त, उन्नतकुल, शीलवान, सभी वेदों और व्याकरणादि वेदाङ्गों के ज्ञाता, ज्योतिषशास्त्र, शकुनशास्त्र

१. ज्ञाताधर्मकथा अ० १ पृ० ८.
२. वही
३. महा पु० ३७/१७५
४. वही
५. वही ५/७
६. झिनकू यादव : समराइच्चकहा एवं सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी : भारती प्रकाशन: १९७७, पृ० ६१.

तथा दण्डनीति-शास्त्र में निपुण और दैवी तथा मानुषी आपत्तियों के प्रतिकार में समर्थ होना चाहिए ।[1]

प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति में धर्म विभाग या धार्मिक विषय पुरोहितों के अधीन था। वह राजधर्म और नीति का संरक्षक था।[2] इस पद के अधिकारियों को मौर्य काल में "धर्ममहामात्र" सातवाहन काल में "श्रमण महामात्र", गुप्तकाल में "विनयस्थितिस्थापक" और राष्ट्रकूट काल में "धर्मांकुश" कहा जाता था।[3]

पुरोहित लोग राज्य में उपद्रव तथा राजा की व्याधियों की शान्ति के लिए यज्ञ आदि का अनुष्ठान करते थे। कभी-कभी पुरोहितों को राज्य-हित के लिए दूत-कार्य भी करना पड़ता था।[4] निशीथचूर्णी में पुरोहितों को धार्मिक कृत्य (यज्ञादि शान्तिकर्म) करने वाला बताया गया है।[5] विपाक-सूत्र में जितशत्रु राजा के महेश्वरदत्त नामक पुरोहित द्वारा, राज्योपद्रव शान्त करने, राज्य और बल का विस्तार कराने तथा युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए अष्टमी और चातुर्दशी आदि तिथियों में नवजात शिशुओं के पिण्ड से शान्ति होम किये जाने का उल्लेख है।[6]

धीरे-धीरे पुरोहितों का महत्त्व कम होने लगा और २०० ई० के बाद से तो उसे मंत्रिपरिषद का सदस्य भी नहीं बनाया जाने लगा।[7] हरिभद्रसूरि के काल तक आते-आते पुरोहितों का कार्य मुख्यतया धार्मिक कृत्य सम्पन्न करना ही रह गया था। उसे राजगुरु कहा जाने लगा। मंत्रिपरिषद का सदस्य न होने पर भी उसे राजदरबार में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था।

---

१. **अर्थशास्त्र १/९, पृ० २३**
२. **प्राचीन भारतीय शासन पद्धति पृ० १५२**
३. वही पृ० १५२
४. **समराइच्चकहा एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० ६२.**
५. **नि० चू० २ पृ० २६७**
६. **विपाकसूत्र अ० ५**
७. **समराइच्चकहा एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० ६२**

श्रेष्ठी (नगर-सेठ) यह अठारह प्रकार की प्रजा का रक्षक कहलाता था। राजा द्वारा मान्य होने के कारण उसका मस्तक देवमुद्रा से विभूषित, सुवर्णपट्ट से शोभित रहता था। यह अमात्य, सेनापति, पुरोहित, सहित राजा के साथ रहता था।[1]

उपर्युक्त पुरुषों के अलावा ग्राम महत्तर, राष्ट्रमहत्तर, (राठौड़), गणनायक, दण्डनायक, कोट्टपाल, संधिपाल, पीठमर्द, महामात्र (महावत), यानशलिक, विदूषक, दूत, चेट, वार्तानिवेदक, किंकर, कर्मकर, असिग्राही, धनुग्राही, कोतग्राही, छत्रग्राही, चामरग्राही, वीणाग्राही, भाण्ड, अभ्यंग, लगाने वाले, उबटन लगाने वाले, स्नान कराने वाले, वेश-भूषा से मंडित करने वाले, पैर दबाने वाले आदि कितने ही कर्मचारी राजा की सेवा में उपस्थित रहते थे।

राजा की उपाधियाँ :—

जैन पुराणों का अवलोकन करने से राजा की उपाधियाँ ज्ञात होती हैं कि राजा को प्राचीन समय में किन-किन नामों से जाना जाता था। उस समय राजगण अपनी शक्ति के अनुसार चक्रवर्ती[2], अर्धचक्रवर्ती[3] राजराजेश्वर[4], महामण्डलेश्वर[5], मण्डलेश्वर[6], अर्धमण्डलेश्वर[7], महीपाल[8], नृप[9], राजा[10], भूप[11], महामण्डलिक[12], अधिराज[13], राजराज[14],

---

१. महा पु० ५/७.
२. हरिवंश पु० ५/२५२, महा पु० ४५/५३.
३. महा पु० २३/६०
४. हरिवंश पु० ११/२३
५. महा पु० २३/६०
६. वही २३/६०
७. वही २३/६०
८. वही ४१/६७
९, वही ४/१३६, हरिवंश पु० १९/१६
१०. महा पु० ४/७०, हरिवंश पु० १९/१६
११. वही ५२/२७, वही १९/१६, पद्म पु० ११/५८
१२. महा पु० १६/२५७
१३. वही १६/२६२
१४. वही ३१/१४४

राजेन्द्र[1], राजर्षि[2], अधिराट्[3], सम्राट्[4], आदि उपाधियाँ धारण करते थे।

जैनेत्तर पुराणों में भी उपर्युक्त प्रकार की राजाओं की उपाधियाँ प्राप्त होती थीं, जो उनकी शक्ति की द्योतक थीं। महाभारत में राजाओं के लिए राजन्, राजेन्द्र, राज्ञ, नृप, नृपति, नराधिप, नरेन्द्र, नरेश्वर, मनुष्येन्द्र, जनाधिप, जनेश्वर, पार्थिव, पृथ्वीश्वर, पृथ्वीपाल, पृथ्वीपति, भूमिप, क्षितिभुज, विशांपति, लोकनाथ आदि उपाधियाँ वर्णित हैं।[5] कालिदास ने अपने ग्रन्थ में भगवान्, प्रभु, जगदेशनाथ, ईश्वर, ईश, मनुष्येश्वर, प्रजेश्वर, वसुधाधिप, राजा, भूपति, अर्थपति, प्रियदर्शन, भुवोभुर्त, महीक्षित, विशांपति, प्रजाधिप, मध्यमलोकपाल, गोप, महीपाल, क्षितीश, क्षितिप, नरलोकपाल, अगाधसत्व, दण्डधर, पृथ्वीपाल, भट्टारक, आदि उपाधियाँ राजा के लिये प्रयुक्त की गई हैं।[6]

राजा के प्रकार :—

जैन पुराणों में राजा के प्रकारों का भी उल्लेख मिलता है। महापुराण में चमर के आधार पर राजाओं का विभाजन हुआ है। जिनेन्द्र देव के पास ६४ चमर थे। ये ही चमर चक्रवर्ती राजा के पास आधे हो जाते हैं। इसी आधार पर चक्रवर्ती बत्तीस, अर्ध-चक्रवर्ती सोलह, मण्डलेश्वर आठ, अर्द्ध मण्डलेश्वर चार, महाराज दो, और राजा एक चमर बाँधते थे।[7] महापुराण के अनुसार भरत प्रथम चक्रवर्ती थे और उन्हीं से ही चक्रवर्ती परम्परा प्रारम्भ हुई थी[8]। भरत के नाम पर ही भारतवर्ष

---

१. महा पु० ३२/९८
२. वही ३४/३४
३. वही ३७/२०
४. वही ३७/२०
५. प्रेमकुमारी दीक्षित : **महाभारत में राजव्यवस्था**, लखनऊ, १९७०, पृ० २९
६. **कालिदास का भारत भाग १** पृ० १३०-१३१
७. महा पु० २३/६०
८. वही

का नामकरण हुआ है। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति[१], वसुदेव हिण्डी[२], आदि पुराण[३] में इसका स्पष्ट उल्लेख है कि ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम से ही प्रस्तुत देश का नामकरण 'भारतवर्ष' पड़ा है। महापुराण के अनुसार चक्रवर्ती राजा के अधीन ३२,००० मुकुट बंध राजा होते थे।[४] इसी पुराण में यह भी उल्लिखित है कि राजा विजित राजा को वीरपट्ट बांधते थे।[५] यह एक प्रकार का प्रमाण पत्र होता था जिसे सार्वभौम राजा प्रदान करते थे।

इसके अलावा महापुराण में युद्ध के आधार पर राजाओं के तीन प्रकारों का वर्णन किया गया है :—

(१) धर्म विजयी, (२) लोभ विजयी, (३) असुर विजयी।

१. **धर्म विजयी** :—धर्म विजयी शासक वह है जो किसी राजा पर विजय प्राप्त करके उसके अस्तित्व को नष्ट नहीं करता है, अपितु अपने आधिपत्य में उसकी स्वायत्त सत्ता स्थापित रहने देता है। और उस पर नियत किये हुए करों से वह संतुष्ट रहता है।

१. **लोभ विजयी** :—लोभ विजयी शासक वह होता है जिसे धन और भूमि का लोभ होता है। उसको प्राप्त करने के उपरान्त वह उसको पराधीन नहीं बताता, अपितु उसे अपने आन्तरिक विषयों में पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करता है।

(३) **असुर विजयी** :— असुर विजयी शासक वह है जो केवल धन और पृथ्वी से ही सन्तुष्ट नहीं होता, अपितु वह विजित शासक का वध कर देता है, और उसके स्त्री-बच्चों का भी अपहरण कर लेता है।

---

१. **जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति** पक्ष० ३

२. **वसुदेव हिण्डी** : प्रथम खण्ड : प्रो० भोगीलाल जयचन्दभाई साडेसरा; भावनगर जैन आत्मानंद सभा पृ० १८६

३. महा पु० १५/१५८-१५६

४. महा पु० ६/१६६

५. वही ४३/३१३

राजा के गुण :—

राज्य के अन्दर शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए तथा बाह्य आक्रमणों से देश की रक्षा करने के लिए राजा की आवश्यकता होती है, इसलिए राज्य के उत्तरदायित्व को वहन करने के लिए राजा में ऐसे गुण होने चाहिए, जिससे कि वह राज्य का संचालन सम्यक् ढंग से कर सके। इसीलिए प्राचीन मनीषियों ने राजाओं के गुणों का निर्धारण किया है। जैनागमों तथा पुराणों में राजाओं के गुणों का उल्लेख किया गया है। इन ग्रन्थों के अनुसार राजा को जैन धर्म के रहस्य का ज्ञाता, शरणागत वत्सल, परोपकारी, दयावान, विद्वान, विशुद्धहृदयी, निन्दनीय कार्यों से पृथक, पिता के तुल्य प्रजा का रक्षक, प्राणियों की भलाई में तत्पर, शत्रु-संहारक, शस्त्रों का अभ्यासी, शान्ति कार्य में थकावट से रहित, परस्त्री से विरत, संसार की नश्वरता के भय से धर्म में आसक्त, सत्यवादी और जितेन्द्रिय होना चाहिए।[1] पद्मपुराण में वर्णित है कि राजा को नीतिज्ञ, शूरवीर और अहंकार से रहित होना चाहिए।[2] महापुराण में बताया गया है कि आत्मरक्षा करते हुए प्रजा का पालन करना ही राजा का मौलिक गुण बताया गया है।[3] जैनेत्तर साहित्य में भी उक्त विचार उपलब्ध हैं।[4]

महापुराण के अनुसार राजा अपने चित्त का समाधान कर जो दुष्ट पुरुषों का निग्रह और शिष्ट पुरुषों का पालन करता है, वही उसका समंजसत्व गुण कहलाता है।[5] पद्मपुराण के अनुसार शक्तिशाली एवं

---

१. जिनशासनतत्त्वज्ञ : शरणागतवत्सलः।
सत्यस्थापितसद्वाक्यो बाढं नियमितेन्द्रियः॥
पद्म पु० ९८-२०-२४, महा० पु० ४/१९३, औपपातिक सूत्रः टीका अभयदेव सूरि संशो० द्रोणाचार्य, सूरतः माणेकलाल, नहालचंद आदि ट्रस्टीओं वि० स० १९९४, ६ पृ० २०.

२. पद्म पु० २/५३

३. कृतात्मरक्षणश्चैव प्रजानामनुपालने। राजा यत्नं प्रकुर्वीत राज्ञां भोजो हृदयं गुणः महा पु० ४२/१३७.

४. महाभारत शान्तिपर्व ६३/१७, ७१/२-११.

५. राजाचित्तं समाधाय यत्कुर्याद दुष्टनिग्रहम्।
शिष्टानु पालनं चैव तत्साम जस्यन्मुच्यते॥ महा पु० ४२/१९९.

शूरवीर राजा कभी भयभीत नहीं होता है, और ब्राह्मण, मुनि, निहत्थे, स्त्री, बालक, पशु और दूत के ऊपर कभी प्रहार नहीं करता हैं।[1] पद्म-पुराण में राजा के गुणों का वर्णन करते हुए आचार्य रविषेण ने लिखा है कि उसे सर्ववर्णधर, कल्याणप्रकृति, कलाग्राही, लोकधारी, प्रतापी, धनी, शूरवीर, नीतिज्ञ, शास्त्राभ्यास, सज्जनों का प्रेमी, दानी, हस्तिमदमर्दन आदि गुणों से युक्त होना चाहिए।[2] इसी में अन्य स्थान पर वर्णित है कि श्रेष्ठ राजा को लोकतन्त्र, जैन व्याकरण एवं नीतिशास्त्र का ज्ञाता, तथा महागुणों से विभूषित होना चाहिए।[3] राजा प्रचुर कोष का स्वामी, शत्रु विजेता, अहिंसक, धर्म एवं यज्ञादि में दक्षिणा देने वालों का रक्षक होता था।[4] राजा सत्यवादी एवं जीवों के रक्षक होते थे। जीवों की रक्षा करने के कारण ही उन्हें ऋषि कहते थे।[5] राजा को पिता के समान न्यायवत्सल होकर प्रजा की रक्षा करना, विचारपूर्वक कार्य करना, दुष्ट मनुष्यों को कुछ देकर वश में करना, मित्र को सद्भाव पूर्ण आचरण द्वारा अनुकूल रखना, क्षमा से क्रोध को, मार्दव से मान को, आर्जव से माया को, और धैर्य से लोभ को वश में करना राजा का गुण (कर्त्तव्य) माना जाता था।[6] महापुराण के अनुसार राजाओं के छः गुण—संधि, विग्रह, मान, आसन, संस्था और द्वैधीभाव का होना आवश्यक माना गया था।[7] महापुराण के ही अनुसार राजा को साम, दाम, दण्ड, एवं भेद का ज्ञान और सहाय, साधनोपाय, देशविभाग, काल विभाग तथा विनियात प्रतीकार आदि

---

१. देवेन्द्र इव विभ्राण......मदोत्कटगजेषु तु। पद्म पु० २/५०-५६

२. नरेश्वरा उर्जित शौर्यचेष्टा न भीतिभाजां प्रहरन्ति जातु।
न ब्राह्मणं न श्रमणं न शून्यं स्त्रियं न बाल न पशु न दूतम्॥ पद्म पु० ६६/६०

३. सर्वेषु नयशास्त्रेषु-कुशलो लोक तन्त्रवित्।
जैन व्याकरणाभिज्ञो महागुणंविभूषितः॥ पद्म पु० ७२/८८

४. बहुकोशो......पुर्नभुवः। पद्म पु० २७/२४-२५

५. सत्यं वदन्ति......जन्तुपालने। पद्म पु० ११/५८

६. भजस्व प्रस्खलं......लौभंतनूकुरु। पद्म पु० ६७/१२८-१३०.

७. सन्धिविग्रह यानानि संस्थाव्यासनमेव च।
द्वैधीभावश्च विज्ञेयः षड्गुणा नीतिवेदनम्॥ महा० पु० ४८/१२६-१३०(टिप्पणी)

पाँच अंगों में निर्णीत संधि एवं विग्रह-युद्ध के रहस्य का ज्ञाता होना चाहिए ।[1]

जैन पुराणों के अलावा जैनेतर पुराणों में तथा ग्रंथों में भी राजा के गुणों पर प्रकाश डाला गया है ।

अर्थशास्त्र में राजा के गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि राजा को (१) उच्चकुल में जायमान (२) दैवसम्पन्न, बुद्धिसम्पन्न, सत्त्व सम्पन्न (सम्पत्ति तथा विपत्ति में धैर्यशाली), वृद्धदर्शी (विद्या और वृद्धजनों का सेवक), धर्मात्मा, सत्यवादी, अविसंवादक, कृतज्ञ, विनयी, स्थूललक्ष, महोत्साह, शक्य सामन्त, दृढ़बुद्धि आदि से युक्त होना चाहिए ।[2]

याज्ञवल्क्य स्मृति में भी राजा को उत्साही-स्थूल-लक्ष्य, कृतज्ञ, वृद्धसेवी, विनय-युक्त, कुलीन, सत्यवादी, पवित्र, अदीर्घसूत्री, स्मृतिवान, प्रियवादी, धार्मिक, अव्यवसनी, पण्डित, बहादुर, रहस्यवेत्ता, राज्यप्रबन्धक, आत्म विद्या और राजनीति में प्रवीण बताया गया है ।[3]

वाल्मीकि के अनुसार राजा गुणवान्, पराक्रमी, धर्मज्ञ, उपकार मानने वाला, सत्यवक्ता, दृढ़प्रतिज्ञ, सदाचारी, समस्त प्राणियों का हित-साधक, विद्वान्, सामर्थ्य-शाली, प्रियदर्शन, मन पर अधिकार रखने वाला, क्रोध को जीतने वाला, कान्तिमान, अनिंदक और संग्राम में अजय योद्धा होता है ।[4]

उपर्युक्त गुणों के आधार पर कहा जा सकता है कि राजा सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक आदि सभी क्षेत्रों में सर्वगुण सम्पन्न होता था ।

---

१. भूपतिः पद्मगुल्माख्यो दुष्टोऽपायचतुष्टयः ।
पङ्चाङ्गमन्त्रनिर्णीतसन्धिविग्रहतत्त्ववित् ॥ महा पु० ५६/३

२. अर्थशास्त्र ६/१, पृ० ४१५.

३. याज्ञवल्क्य स्मृति, राजधर्म प्रकरण श्लोक ३०९-१०.

४. रामायण : वाल्मीकि १/१/२-४.

राजा प्रजा का सम्बन्ध :—

प्राचीन ग्रंथों में राजा और प्रजा का सामंजस्य स्थापित करते हुए राजा को प्रजा का सेवक वर्णित किया है। प्रजा राजा को अपनी आय का छठांश भाग कर के रूप में देती थी, यही राजा की आय होती थी। इस प्रकार राजा को भृत्य की भाँति प्रजा की सेवा करने की व्यवस्था थी।[1] जैन पुराणों में वर्णित है कि प्रजा का राजा का अनुकरण करती थी। यदि राजा धर्मात्मा होता था तो प्रजा भी धर्मात्मा होती थी और राजा के अधर्मात्मा होने पर प्रजा भी अधर्मात्मा होती थी अर्थात् जैसा राजा वैसी प्रजा की कहावत चरितार्थ होती है।[2] जैनेत्तर ग्रन्थों में भी उपर्युक्त मत का प्रतिपादन होता है कि प्रजा के सुख में ही राजा का सुख था और प्रजा के हित में राजा का हित था। अतः राजा को अपना हित न देखकर प्रजा का हित देखने को कहा गया है।[3]

महापुराण में उल्लिखित है कि प्रजा राजा को ब्रह्मा मानकर समृद्धि प्राप्त करती थी।[4] जैनेत्तर पुराण में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि राजा निःस्वार्थभाव से प्रजा की सुख-समृद्धि के लिए सचेष्ट रहता था। अतः प्रजा भी राजा को देवतुल्य मानती थी।

महापुराण में राजा द्वारा प्रजा की रक्षार्थ विभिन्न उपायों का निरूपण करते हुए वर्णित है कि राजा को अपनी प्रजा का पालन उस प्रकार करना चाहिए जिस प्रकार आलस्य रहित होकर ग्वाला बड़े यत्न

---

१. बौधायनधर्मसूत्र १/१०-६, शुक्र ४/२०/३०.

२. यथा राजा तथा प्रजा। पद्म पु० १०६/१५६.
अनाचारेस्थिते तस्मिन् लोकस्तत्र प्रवर्तते। पद्म पु० ५३/५, पाण्डव पु० १७/२५६-२६०.
धर्मशील महीपाले यान्ति तच्छीलता प्रजाः।
अताच्छील्यमतच्छीले यथा राजा तथा प्रजा। महा पु० ४१/६७.

३. प्रजा सुखे राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्॥ अर्थशास्त्र। १/११५६, महाभारत शान्तिपर्व ६६/७२-७३.

४. प्रजाः प्रतापतिं मत्वा तमैधन्तसुमेधसम्। महा पु० ५४/११७.

से अपनी गायों की रक्षा करता है। जिस प्रकार अपनी गाय को अंगछेद आदि का दण्ड नहीं देता, उसी प्रकार से राजा को दण्ड देने में अपनी प्रजा के साथ न्यायोचित उदारता करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त ग्वाले के समान राजा अपनी प्रजा के रक्षार्थ, दवा देना, सेवा कराना, आजीविका प्रबन्ध करना, परीक्षा करके उच्चकुलीन पुत्रों को खरीदना और अपने राज्य में कृषकों को बीज आदि देकर खेती करानी चाहिए।[1] हरिवंश पुराण के अनुसार राजा को प्रजा के साथ पिता के समान व्यवहार करना चाहिए।[2]

राजा और प्रजा के सम्बन्ध में उक्त विचार जैनेत्तर पुराणों में भी मिलते हैं।[3] जैनेत्तर अग्निपुराण में उल्लिखित है कि जिस प्रकार गर्भवती स्त्री अपने उदरस्थ शिशु को हानि पहुंचाने की आशंका से अपनी इच्छाओं का दमन कर सुखों का परित्याग करती है, उसी प्रकार राजा को भी अपनी प्रजा के हित के सामने अपनी इच्छाओं का दमन कर सुखों का परित्याग करना चाहिए।[4]

राजा के कार्य : -

समाज में राजा की आवश्यकता फैली हुई अराजकता का अंत करने, प्रजा का यथोचित पालन करने तथा देश में शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए हुई। इसलिए राजा का कर्त्तव्य है कि वह देश में शान्ति एवं सुव्यवस्था बनाये रखे। जैन मान्यतानुसार बताया गया है कि राजा को धर्मपूर्वक प्रजा का संरक्षण करना चाहिए। जो राजा धर्म-पूर्वक राज्य करता है वह राजपद पर स्थायी रूप से रह सकता है। जो राजा अधर्माचारी होता है, वह शीघ्र ही पदच्युत कर दिया जाता है। तथा ऐसा राजा मर कर नरक में जाता है। अर्थात् जिसमें धर्म होता है, उसी को राजा कहते हैं। महाभारत (शान्तिपर्व) के अनुसार राजा धर्म के लिए

---

१. महा पु० ४२/१३९-१९८

२. प्रजानांजनाकाभास्ते··· । हरिवंश पु० ७/१७६

३. **रामायण** २/२/२८-४७, **महाभारत शान्तिपर्व** १३९/१०४-१०५.

४. नित्यं राज्ञा तथा भाव्यं गर्भिणी सहधर्मिणी ।
यथा स्वं सुखमुत्सज्य गर्भस्य सुखमावहेत ।। **अग्निपुराण** २२२/८,

होता है, न कि कामना, वासनाओं की पूर्ति के लिए।[1] जैन मान्यतानुसार राजा को अहिंसापूर्वक प्रजा का संरक्षण करना चाहिए।

जैन पुराण साहित्य के अनुसार राजा के निम्नलिखित कर्त्तव्य बताये गये हैं :—

(१) प्रजा की रक्षा करना :—

प्रजा की बाह्य एवं आन्तरिक राष्ट्र संकटों से रक्षा करना राजा का सर्व प्रमुख कर्त्तव्य है। जैन पुराणों के अनुसार राजा को पुत्रवत अपनी प्रजा का पालन करना चाहिए। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के अनुसार ऋषभदेव प्रथम राजा हुये हैं।[2] इनसे पूर्व न कोई राजा था और न राज्य। भगवान ऋषभदेव ने राजपद पर आसीन होने के बाद सर्वप्रथम प्रजा की रक्षा हेतु, मत्स्य-न्याय के निवारण के लिए दण्ड की व्यवस्था की थी। प्रजा के जीविकोपार्जन के लिए असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य तथा शिल्प आदि छह कर्मों का उपदेश दिया था। देश में सैनिक दलों की स्थापना की, जिससे देश में शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित हो सके। प्रजा की सुरक्षा के लिए आचार्य सोमदेव लिखते हैं कि जो राजा शत्रुओं पर पराक्रम नहीं दिखाता वह जीवित ही मृतक के समान है। राजा को प्रजा के कार्यों, प्रजा पालन व दुष्ट-निग्रह आदि का स्वयं ही निरीक्षण करना चाहिए। इन कार्यों को राजकर्मचारियों के ऊपर नहीं छोड़ना चाहिए। प्रजा की रक्षा करना ही राजा का सबसे महान धर्म है।[3] इसके अलावा प्रजा की रक्षा के साथ-साथ प्रजा का सर्वाङ्गीण बिकास करना भी राजा का कर्त्तव्य है।

(२) सामाजिक व्यवस्था की स्थापना :—

समाज की समुचित व्यवस्था करना राजा का प्रमुख कर्त्तव्य होता है। जिस देश अथवा समाज के लोग जब अपने-अपने धर्म का पालन नहीं करते तब समाज नष्ट हो जाता है। अतः राजा को वर्णाश्रम की स्थापना

---

१. महाभारत (शान्तिपर्व) ६०/३-४,

२. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वक्ष २. पृ० ११८.

३. नीतिवाक्यामृत में राजनीति पृ० ७४

करनी चाहिए। भगवान ऋषभदेव ने सामाजिक जीवन से नितान्त अनभिज्ञ उस समय के मानव का सुन्दर-शान्त और सुखमय जीवन बनाने के लिए, सहअस्तित्व का पाठ पढ़ाते हुए, सब प्रकार से समीचीन समाज की आधार-शिला रखी। ऋषभदेव ने सर्वप्रथम वर्ण-व्यवस्था की स्थापना की।[1] इससे पूर्व किसी भी प्रकार की वर्ण-व्यवस्था नहीं थी। जो लोग शारीरिक दृष्टि से सुदृढ़ और शक्ति सम्पन्न थे, उन्हें प्रजा की रक्षा के लिए कार्य में नियुक्त कर पहचान के लिए "क्षत्रिय" शब्द की संज्ञा दी।

जो लोग कृषि, पशुपालन व वस्तुओं के क्रय-विक्रय, वितरण, अर्थात् वाणिज्य में निपुण सिद्ध हुए, उन लोगों के वर्ग को "वैश्य" वर्ण की संज्ञा दी।

जिन कार्यों को करने में वैश्य लोग अरूचि एवं अनिच्छा अभिव्यक्त करते, उन कार्यों को करने में जो लोग तत्पर हुए व जनसमुदाय की सेवा में विशेष अभिरुचि प्रगट की उस वर्ग को "शूद्र" की संज्ञा दी।

इस प्रकार ऋषभदेव स्वामी ने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णों की स्थापना की थी।[2]

इसके अतिरिक्त भगवान ऋषभदेव ने मानव को सर्वप्रथम सहअस्तित्व, सहयोग, सहृदयता, सहिष्णुता, सुरक्षा, सौहार्द्र एवं समानता का पाठ पढ़ाकर मानव के हृदय में मानव के प्रति भ्रातृभाव को जन्म दिया। उन्होंने गुण कर्म के अनुसार वर्ण-विभाग किये। जन्म को प्रधानता नहीं दी और लोगों को समझाया कि सब अपना-अपना काम करते हुये एक-दूसरे का सम्मान सत्कार करते रहो, किसी को तिरस्कार की भावना से मत देखो।

उपर्युक्त तीन वर्णों के अलावा चौथे ब्राह्मण वर्ण की स्थापना महाराजा भरत चक्रवर्ती द्वारा हुई। जो लोग आरम्भ परिग्रह की प्रवृत्तियों से अलग रहकर लोगों को "माहन", "माहन" (हिंसा मत

---

१. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वक्ष २

२. महा पु० १६/२४३-२४६

करो) ऐसी शिक्षा देते, उन्हें "माहज" अर्थात् "ब्राह्मण" कहा जाने लगा। भरत द्वारा प्रत्येक श्रावक के देवगुरु, धर्म अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूपी रत्नत्रय की आराधना के कारण, कांकणीरत्न से तीन रेखाएँ की जाती थीं। समय पाकर ये ही तीन रेखाएँ यज्ञोपवीत के रूप में परिणित हो गई।[1]

इस प्रकार भरत चक्रवर्ती द्वारा ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति हुई।

सोमदेव सूरि यद्यपि जैन आचार्य थे किन्तु उन्होंने कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था को अपनाया है। वे लिखते हैं कि राजा को यमराज के समान कठोर होकर अपराधियों को दण्ड देते रहना चाहिए। इससे लोग अपनी-अपनी मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं कर सकते तथा राजा को धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों की प्राप्ति होती थी।[2]

(३) आर्थिक कर्त्तव्य :—

आर्थिक दृष्टि से प्रजा को सुखी-सम्पन्न बनाना भी राजा का कर्त्तव्य है। जीवन को सुखी एवं समृद्धिशाली बनाने के लिए अर्थ की परम आवश्यकता होती है। क्योंकि सभी कार्यों की सिद्धि अर्थ से ही होती है। राजा को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिससे प्रजा सरलतापूर्वक जीवनयापन कर सके। भगवान ऋषभदेव ने प्रजा को स्वावलम्बी बनाने के लिए असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य एवं शिल्प इन छह कर्मों का उपदेश दिया था। इसके अलावा कुम्भकार कर्म, पटकार कर्म, वर्धकी कर्म, चित्रकार कर्म, काश्यप कर्म, और नापित कर्म सिखाया। इन पाँच मूल कर्मों के बीस-बीस भेदों से १०० प्रकार के कर्म उत्पन्न हुए। इस प्रकार भगवान ऋषभदेव ने सौ शिल्प कर्मों को सिखलाया।[3]

इसके अलावा राजा का कर्त्तव्य है कि वह प्रजा की आर्थिक स्थिति को ठीक रखने के लिए प्रजा पर अधिक कर नहीं लगाये। यदि कोई राजा प्रजा से अनुचित कर, या धन वसूल करता है, तो उस राजा का राज्य

---

१. जैन धर्म का मौलिक इतिहास पृ० २८

२. नीतिवाक्यामृत में राजनीति पृ० ७५

३. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति पृ० ११६, आ० चूर्णी पृ० १५१.

शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। इसलिए राजा को न्यायपूर्वक धन ग्रहण करना चाहिए। राजा को व्यापार, वाणिज्य के लिए समुचित व्यवस्था भी करनी चाहिए।

प्राचीन काल की राजनीति के अनुसार लावारिस पुरुष की सम्पत्ति उसके मरने के बाद राजा को ही जाती थी। इस कारण मरने वाले की माता, स्त्री आदि आश्रितजन अनाथ और निराधार बन जाते थे। इस क्रूर राजनीति से कई अबलाएँ जीवित रहने पर भी मृत्यु के समान हो जाती थीं। जले पर नमक छिड़कने वाली इस क्रूर प्रथा को कुमार भूपति ने अपने राज्य में एक आदेश निकाल कर बन्द करा दिया। ऐसा कार्य अशोक राजा ने भी किया था।[1]

(४) **प्रशासकीय कर्त्तव्य :—**

देश की शासन व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए राजा के प्रशासकीय कर्त्तव्य भी महत्त्वपूर्ण हैं। इसके लिए राजा को राजकर्मचारियों की नियुक्ति करनी चाहिए, क्योंकि अकेला राजा शासन भार को नहीं संभाल सकता। इसके लिए उसे राजनीति के ज्ञाता कुशल मंत्रियों की नियुक्ति करनी चाहिए। जैन आगमों में राजा के पाँच प्रधान पुरुषों का वर्णन किया गया है - राजा, युवराज, अमात्य, श्रेणी और पुरोहित। इनमें से युवराज और अमात्य को प्रमुख माना गया है। जैन मान्यतानुसार युवराज को बहत्तर कलाओं में प्रवीण होना चाहिए तथा युवराज बनने से पूर्व उसे राजनीतिक सभी कार्यों की शिक्षा देनी चाहिए।[2]

मंत्रियों की नियुक्ति के लिए परीक्षाएँ ली जाती थीं। जो परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो जाते उन्हीं योग्य पुरुषों को मंत्री बनाया जाता था। राजा श्रेणिक का अभय कुमार नाम का मंत्री बहुत ही योग्य था। उसकी भी नियुक्ति से पूर्व राजा ने परीक्षा ली थी।

इसके अलावा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को ठीक प्रकार से बनाये रखने के लिए दूतों की नियुक्ति की जाती थी। इस प्रकार प्राचीन समय में जैन

---

१. **कुमारपाल चरित्र संग्रह** : सम्पा० आचार्य विजयमुनि, बम्बई : भारतीय विद्या-भवन १९५६, पृ० २३.

२. **नीतिवाक्यामृत में राजनीति** पृ० ७६.

पौराणिक ग्रन्थों के अनुसार विभिन्न राजकर्मचारियों की नियुक्ति कर राजा प्रशासन को श्रेष्ठ बनाने के प्रयत्न में लगे रहते।

सैन्य व्यवस्था भी प्रशासन का ही अंग है। क्योंकि बल के आधार पर ही राज्य में शान्ति स्थापित हो सकती है। जैन मान्यतानुसार चतुरंगिणी सेना का राजा संगठन करता था, तथा उसके प्रशिक्षण की भी उचित व्यवस्था की जाती थी।

सैन्य-शक्ति की प्रशंसा करते हुए आचार्य सोमदेव लिखते हैं कि जिस प्रकार बटे हुए मृण-तन्तुओं से दिग्गज भी वशीभूत कर लिया जाता है, उसी प्रकार राजा भी सैन्य-शक्ति से शक्तिशाली शत्रु को भी परास्त कर देता है।[1]

इसके अलावा अपराधी की खोज एवं अपराध निषेध के लिए तथा कुशल विदेशनीति निर्धारण के लिए साम, दाम, दण्ड, और भेद ये चार नीतियाँ भी अपनायी जाती थीं। जैन मान्यतानुसार ऋषभस्वामी ने सर्वप्रथम यह नीतियाँ चलाई थीं।[2]

(५) **न्याय-सम्बन्धी कर्त्तव्य—**

राज्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए न्याय की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए। राजा का यह परम कर्त्तव्य है कि वह प्रजा का पक्षपात रहित होकर न्याय करे। इसके लिए राजा को दण्डनीति का ज्ञाता होना अत्यन्त आवश्यक है।

भगवान ऋषभदेव ने चार प्रकार की दंड व्यवस्था का आयोजन किया था।

(१) परिभाषण (२) मण्डली बंध (३) चारक बंध (४) छविच्छेद

ऋषभस्वामी द्वारा स्थापित दण्डनीतियों से पूर्व तीन दण्डनीतियों का उल्लेख कुलकरों के समय का मिलता है। वे तीन दण्डनीतियाँ निम्न थीं :—

(१) हाकार (२) माकार (३) धिक्कार।

---

१. **नीतिवाक्यामृत में राजनीति पृ० ७६.**

२. **आ० नि० गाथा० १९८**

जो राजा साधारण अपराध के लिए प्रजाजनों में दोषों का अन्वेषण कर भीषण दण्ड देता है वह राजा प्रजा का शत्रु है। इसलिए राजा को अपराधियों को उनके अपराधानुकूल दण्ड देना चाहिए, किन्तु अपराधियों को दण्ड अवश्य मिलना चाहिए क्योंकि दण्ड के अभाव में मत्स्य-न्याय पनपता है। इसलिए राजा को समय-समय पर अपराधियों की खोज करवाकर दण्ड देते रहना चाहिए, लेकिन दण्ड अपराधानुसार ही देना चाहिए।

(६) **धार्मिक कर्त्तव्य :—**

प्राचीन समय में जैन मान्यतानुसार जब राजा का राज्याभिषेक हो जाता था, तब वह देश में अमारी घोषणा करवाता था। (अमारी घोषणा का अर्थ है किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करना) उस समय सभी व्यक्तियों को करमुक्त कर दिया जाता था तथा कैदियों को कैदखाने से छोड़ दिया जाता था। महाराजा कुमारपाल ने राजपद पर आरूढ़ होने के तुरन्त बाद ही अमारी घोषणा करवाई थी। तथा वि. सं. १२१६ में हेमचन्द्राचार्य के पास, सकलजन समक्ष जैन धर्म की गृहस्थ दीक्षा धारण की थी। इस दीक्षा के धारण करते ही उसने उसी समय मुख्य तीन प्रतिज्ञाएँ ली थी।

राज्य रक्षा निमित्त युद्ध के अतिरिक्त यावत् जीवन किसी प्राणी की हिंसा नहीं करना, शिकार नहीं खेलना, मद्य और मांस का सेवन नहीं करना। प्रतिदिन जिन प्रतिमा की पूजा करना और हेमचन्द्राचार्य का पदवन्दन करना इत्यादि।[1]

जैन साहित्यिक ग्रंथों में उल्लेख मिलता है कि राजा जिन (जैन) मंदिरों की स्थापना कराते थे। सर्वप्रथम ऋषभ स्वामी का राज्याभिषेक करने जब इन्द्र हाजिर (उपस्थित) हुआ था उस समय इन्द्र ने ही सर्वप्रथम मांगलिक कार्य के लिये अयोध्या के बीचों-बीच जिन मंदिरों की स्थापना की थी।[2] उसके पश्चात्, ग्राम, नगर आदिकी स्थापना की थी।

□ □ □

१. **कुमारपाल चरित संग्रह** पृ०. २७
२. **महा पु०** १६/५०

पंचम अध्याय

"शासन व्यवस्था"

राज्य को सुचारू रूप से चलाने के लिए तथा राज्य में शान्ति एवं सुव्यस्था स्थापित करने के लिए शासन व्यवस्था का होना अत्यन्त आवश्यक है। प्राचीन समय से ही शासन व्यवस्था का सूत्रपात चला आ रहा है। जैन आगम तथा पौराणिक ग्रंथों के अनुसार भगवान ऋषभदेव से पूर्व किसी भी प्रकार की शासन-व्यवस्था नहीं थी, क्योंकि उससे पूर्व न राज्य था और न ही राजा। ऋषभदेव ही प्रथम राजा हुये। ऋषभदेव स्वामी ने राज्याभिषेक के पश्चात् तुरन्त ही शासन व्यवस्था की स्थापना की। राज्य की सुव्यवस्था एवं विकास के लिए सर्वप्रथम "आरक्षक दल" की स्थापना की। जिसके अधिकारी 'उग्र" कहलाये। इसके पश्चात् राजकीय व्यवस्था में परामर्श देने के लिए एक "मंत्रिमंडल" का निर्माण किया। जिसके अधिकारी "भोग" कहे गये। मंत्रिमंडल की स्थापना के पश्चात् "परामर्श मण्डल" की स्थापना की, जो कि सम्राट के सन्निकट रहकर उन्हें समय-समय पर परामर्श (सलाह) देते रहते। परामर्श मण्डल के सदस्यों को "राजन्य" कहा गया। इसके पश्चात् सामान्य कर्मचारियों की नियुक्ति की गई. जिनको कि "क्षत्रिय" नाम से सम्बोधित किया गया।[1]

इस प्रकार ऋषभस्वामी द्वारा चार प्रकार की शासन व्यवस्था स्थापित की गई।

जैन मान्यतानुसार केन्द्रीय शासन शासन व्यवस्था में परिषदों का महत्त्वपूर्ण स्थान होता था। जैनागमों में पाँच प्रकार की परिषदों का उल्लेख मिलता है।

---

१. **तित्थोगाली पइन्नय** पृ० ८५, गा० २८७, आव० नि० पृ० ५६, आ० चूर्ण० पृ० १५४.

(१) पूरयन्ती परिषद :—

राजा जब यात्रा के लिए बाहर जाता, तब जो राज कर्मचारी उनकी सेवा में रहते थे, उनकी परिषद को "पूरयंती परिषद" कहा गया ।

(२) छत्रपती परिषद :—

इस परिषद के सदस्य राजा के सिर पर छत्र धारण करते थे, और राजा को वाह्यशाला तक प्रवेश करा सकते थे, इससे आगे नहीं ।

(३) बुद्धि परिषद : —

इस परिषद के सदस्य लोक, वेद और शास्त्रों के पण्डित होते थे। लोक प्रचलित अनेक प्रवाद उनके पास लाये जाते, जिनकी वह छानबीन करते थे ।

(४) मंत्रि परिषद :—

यह परिषद बहुत ही महत्त्वपूर्ण होती थी । इस परिषद के सदस्य कौटिल्य आदि राजशास्त्रों के पण्डित होते थे, लेकिन उनके पैतृकवंश का राजकुल से कोई सम्बन्ध नहीं होता था। यह लोग राजा का हित चाहने वाले तथा स्वतंत्र विचारों के होते और राजा के साथ बैठकर एकान्त में मन्त्रणा किया करते थे ।

(५) रहिस्यकी परिषद :—

इस परिषद के सदस्यों का कार्य होता था कि जब कभी रानी राजा से रूठ जाती, रजस्वला होने के बाद स्नान करती, या कोई राजकुमारी विवाह के योग्य होती, तो इन सब बातों की सूचना राजा के पास तक पहुंचाते, इसके अलावा, रानियों के गुप्त प्रेम तथा रतिकर्म आदि की सूचना भी ये लोग राजा तक पहुंचाते थे ।[1]

उपर्युक्त परिषदों में से मंत्रिपरिषद शासन-व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण अंग होती। प्राचीन भारतीय राजनीतिज्ञों ने मंत्रिपरिषद को राज्य-

---

१. **बृहत्कल्प भाष्य पीठिका** ३७८-३८३,
आधार जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज पृ० ६०

व्यवस्था का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग माना है। जैन ग्रंथों में भी अन्य परिषदों की अपेक्षा मंत्रिपरिषद को ही विशेष स्थान दिया गया है। तथा इसका ही विशद विवेचन किया गया है। जैन मान्यतानुसार मंत्रियों के सत्परामर्श पर ही राज्य का विकास, उन्नति एवं स्थायित्व निर्भर है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में यह कहा गया है कि "जिस प्रकार एक चक्र से (पहिये से) रथ नहीं चल सकता, उसी प्रकार बिना मंत्रियों की सहायता के अकेला राजा राज्यभार नहीं संभाल मकता।[1] महाभारत में कहा गया है कि राजा अपने मंत्रियों पर उतना ही निर्भर है जितना कि प्राणीमात्र पर्जन्य पर, ब्राह्मण वेदों पर, और स्त्रियाँ अपने पति पर।[2] मनु का कथन है कि सुकर कार्य ही अकेला व्यक्ति होने की वजह से दुष्कर हो जाता है फिर राज्य जैसे महान कार्य को बिना मंत्रियों की सलाह से चलाना कैसे सम्भव है।[3]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय राजनीतिज्ञों तथा जैन ग्रंथकारों ने मंत्रिमण्डल को राज्य का एक अविच्छिन्न अंग माना है। उक्त बातों का तात्पर्य यही है कि राजा को अकेले कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए। उसे सुयोग्य मंत्रियों एवं अमात्यों की नियुक्ति करनी चाहिए तथा प्रत्येक राजकार्य में उनका परामर्श मानना चाहिए। क्योंकि स्वच्छंद प्रकृति से राज्य नष्ट हो जाता है। इस विषय में आचार्य कौटिल्य का कथन है कि जब कोई कठिन समस्या उपस्थित हो जाये अथवा प्राणों तक का भय हो तो मन्त्रियों एवं मंत्रिपरिषद को बुलाकर राजा उनसे सब कुछ कहे, और उनका परामर्श ले। उनमें से अधिक मंत्री जिस बात को कहें, अथवा जिस उपाय से शीघ्र ही कार्य की सिद्धि होने वाली हो, तो राजा को चाहिए कि उसी उपाय का अनुष्ठान करे।[4] मंत्रिपरिषद का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए कौटिल्य ने लिखा है कि देवराज इन्द्र की मंत्रिपरिषद में एक हजार ऋषि थे। वे ही कार्यों के द्रष्टा होने के कारण इन्द्र के चक्षु के समान थे। इसलिए दो चक्षु वाले इन्द्र को भी

---

१. अर्थशास्त्र १/७ पृ० १६
२. महाभारत उद्योगपर्व ३७/३८
३. मनुस्मृति ७/५४
४. अर्थशास्त्र १/१५ पृ० ४२

सहस्राक्ष कहा जाता है। इस प्रकार प्रत्येक राजा को अपनी मंत्रिपरिषद में सामर्थ्यानुसार अनेक मंत्रियों की नियुक्ति करनी चाहिए।[१]

मंत्रिपरिषद की रचना :—

प्राचीन जैन ग्रंथों तथा हिन्दू ग्रंथों में मंत्रिपरिषद के सदस्यों में मंत्री अमात्य, सचिव, महामंत्री, महा अमात्य और महासचिव शब्दों का प्रयोग हुआ है। किसी ग्रंथ में तो मंत्री, अमात्य और सचिव को एक ही माना गया है। तथा कहीं मंत्री, अमात्य और सचिव में भेद प्रदर्शित किया गया है।

आचार्य कौटिल्य ने मंत्री एवं अमात्य का भेद अर्थशास्त्र मे स्पष्ट कर दिया है। कौटिल्य अमात्य आदि के सम्बन्ध में अन्य आचार्यों के मत उद्धृत करने के उपरान्त अन्त में लिखते हैं कि पुरुष की सामार्थ्य (विभिन्न आधिकाधिक पदों को प्राप्त करने की योग्यता) देखकर राजा किसी भी पुरुष को अमात्य अर्थात् राज्यव्यवस्थापक बना सकता है, क्योंकि अमात्य में सामर्थ्य की प्रधानता आवश्यक होती है। विश्वसनीय अमात्य— गुण, समूह, देश, काल और उचित कार्य की व्यवस्था देखकर राजा उपर्युक्त सहपाठी आदि सभी प्रकार के लोगों को अमात्य (कार्यसचिव) पद पर नियुक्त कर सकता है, किन्तु मंत्री के पद पर नहीं। क्योंकि मंत्री तो वही हो सकता है कि जिसमें सचिव के समस्त गुण विद्यमान हों।[२]

जैनागम निशीथ सूत्र में मंत्रिमण्डल के सदस्यों का अमात्य[३], सचिव,[४] मंत्री[५], महामंत्री[६], के रूप में उल्लेख किया गया है। किन्तु इनमें भेद नही बताया गया है। निशीथ चूर्णी में एक स्थान पर सचिव को मंत्री बताया है।[७] तथा एक स्थान पर सुबुद्धि नामक व्यक्ति को जियसत्तु नामक राजा का अमात्य और मंत्री दोनों ही बताया गया है।[८] समरा-

---

१. अर्थशास्त्र अध्याय १५ प्रकरण ११ पृ० ४४
२. अर्थशास्त्र अध्याय ८, प्रकरण ४, पृ० २१
३. निशीथचूर्णी : जिनदासगणि: सम्पा० उपाध्याय अमरमुनि तथा मुनि कन्हैयालाल, आगरा : सन्मति ज्ञानपीठ १९५१, पृ० १६४.
४. वही १ पृ० १२७
५. वही
६. वही ३, पृ० ५७
७. वही २, पृ० २६७, अमच्चो मंत्री।
८. वही, ३, पृ० १५०

इच्चकहा में मंत्री[1], महामंत्री[2], अमात्य[3], प्रधान अमात्य[4], सचिव[5], प्रधान सचिव का उल्लेख है। आचार्य सोमदेव मंत्री तथा अमात्य में भेद प्रदर्शित करते हैं। इसी उद्देश्य से उन्होंने मंत्री तथा अमात्य दो पृथक समुद्देशोंकी रचना की हैं। सम्भवतः सोमदेव ने मंत्री शब्द का प्रयोग महामंत्री एवं अंतरंग परिषद के मंत्रियों के लिए किया है। तथा अमात्य शब्द का प्रयोग मंत्रिपरिषद के अन्य सदस्यों एवं राज्याधिकारियों के लिए किया है।[6]

अतः स्पष्ट होता है कि अमात्य मंत्रिपरिषद के सदस्य होते थे किन्तु उनको मंत्रणा का अधिकार प्राप्त नहीं था। मंत्रणा केवल सर्वगुण सम्पन्न, पूर्णरूपेण परीक्षित एवं विश्वसनीय मंत्रियों से ही की जाती थी। इस प्रकार मंत्रिपरिषद के सदस्यों की संख्या तो अधिक होती थी, किन्तु अन्तरंग परिषद में केवल तीन या चार मंत्री होते थे और उन्हीं के साथ राजा गहन विषयों पर मंत्रणा करता था। महाभारत से भी इस बात की पुष्टि होती है।[7]

अतः उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि जैन ग्रन्थों में कार्यक्षेत्र के अनुसार मंत्री, अमात्य तथा सचिव को मंत्रिगण के रूप में तथा प्रधान-मंत्री, प्रधान अमात्य और प्रधान सचिव को प्रधान मंत्री के रूप में निर्दिष्ट किया गया है।

---

१. **समराइच्चकहा** : हरिभद्रसूरिकृत :— पं० भगवानदास, अहमदाबाद : जैन सोसायटी १९३८, १ पृ० २१, ६८ ; ४, २५७-५८-५९, २७२, २८३, २९५ ; ६, ५९८, ६३०-३१, ६९२, ६९५, ७०७ ; ८, ८३२,

२. वही २ पृ० १४५, १५१ ; ४, २९५.

३. वही २ पृ० १४६ ; ३, १९६ ; ४, २७३-७४ ; ७, ६३१-३२-३३ ; ८, ८३७; ८, ८९७-९८, ९३५, ९७८.

४. वही ७ पृ० ६९३-९४-९५, मि० पृ० २, पृ० ४४९.

५. **समराइच्चकहा** ३ पृ० १९२ ; ९, ८८१.

६. **नीतिवाक्यामृत में राजनीति** पृ० ८९.

७. **महाभारत शान्तिपर्व** ८३/४७.

(II) मंत्रियों की नियुक्ति :—

जैन पौराणिक ग्रंथों के अनुसार मंत्री पद वंश परम्परागत भी होता था और चुनाव परीक्षा के अनुसार भी होता था। हिन्दू ग्रंथों में बताया गया है कि जिस प्रकार राजा का पद वंशानुगत होता था उसी प्रकार मंत्रियों की नियुक्ती भी इसी सिद्धान्त के अनुसार होती थी। राजा के अन्य व्यक्तियों के साथ मंत्रियों की नियुक्ति करना भी उसका एक महत्वपूर्ण कर्त्तव्य होता था। जैन मान्यतानुसार राजा मंत्रियों की नियुक्ति के लिए स्वतंत्र होता था। लेकिन मंत्रियों की नियुक्ति के पूर्व राजा मंत्रियों की परीक्षा भी लेता था। जो परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता था उसे ही मंत्री बनाया जाता था। त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र में उल्लेख है कि राजा श्रेणिक ने अभय कुमार को महामंत्री बनाने से पूर्व परीक्षा ली थी। ज्ञाताधर्मकथा में भी अभय कुमार मंत्री का उल्लेख है।[1] लेकिन उसकी नियुक्ति किस प्रकार हुई इसका कुछ उल्लेख नहीं किया है।

राजा श्रेणिक के पास चार सौ निन्यानवे (४९९) बहुत कुशल, बुद्धिशाली मंत्री थे।[2] लेकिन वह पाँच सौ मंत्री पूरे करना चाहते थे। वह एक ऐसे पुरुष की खोज में थे जो उत्कृष्ट बुद्धिशाली हो तथा चार सौ निन्यानवे मंत्रियों के ऊपर महामंत्री स्थापित हो सके। इसलिए राजा श्रेणिक ने बुद्धिमान मनुष्य की परीक्षा के लिए एक सूखे कुएँ में अपनी अँगूठी फेंक दी और सारे नगर में ढिंढोरा पिटवाया कि जो कुएँ के ऊपर खड़ा होकर यह अँगूठी बाहर निकालेगा वही कुशल बुद्धिवाला पुरुष मेरे चार सौ निन्यानवे मंत्रियों का मुख्य मंत्री होगा। इसके साथ ही उन्होंने यह शर्त भी रखी थी कि जो अँगूठी निकालेगा उसे अपनी बहिन की पुत्री तथा आधे राज्य की लक्ष्मी दूँगा। यह सुनकर लोग कहने लगे कि यह कार्य तो हमसे नहीं होगा। यह कार्य तो आकाश में से तारों को खींचने के समान है। अर्थात् जो आकाश में से तारे खींच सकता है वही यह कार्य कर सकता है। इतने में ही अभयकुमार हँसता हुआ वहां आया, और बोला, यह अँगूठी क्यों नहीं ली जा सकती, इसमें मुश्किल क्या है। उसे देख सभी

---

१. ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र अ० १ पृ ८.

२. त्रि० श० पु० च० पर्व १०, पृ० १०९

लोग विचार में पड़ गये कि जरूर यह कोई अतिशय बुद्धिवाला व्यक्ति लगता है। क्योंकि समय आने पर पुरुष के मुख का रंग ही उसके पराक्रम का द्योतक होता है। सभी पुरुषगण बोले अच्छा तो आप ही यह मुद्रिका निकाल लो और अर्धराज्य की लक्ष्मी, और ४९९ मंत्रियों की मुख्यता ग्रहण करो। यह सुनकर अभयकुमार बोला कि मैं तो एक परदेशी हूं। तब सभी पुरुष बोले के इसमें परदेशी की क्या बात है, आप यह कार्य कर सकते हैं। (इस वाक्य से विदित होता है कि मंत्री पद के लिए स्वदेशी होना आवश्यक नहीं था।)

यह सुनकर अभयकुमार प्रसन्न हुआ और अँगूठी निकालने के लिए कुएँ के तट पर खड़े होकर आर्द्र गोमय पिंड उस कुएँ में पड़ी हुई मुद्रिका पर डाला। इसके पश्चात् एक जलता हुआ घास का गठ्ठर उस पड़े हुये गोमय पिंड पर फेंका जिससे कि गोमय पिंड तुरन्त सूख जाये। इसके कुछ समय पश्चात् अभयकुमार ने पानी की नहर बनवाकर उस सूखे कुएँ को जल से भरवा दिया। इससे क्या हुआ कि सूखा हुआ गोमय पिंड पानी के ऊपर तैरने लगा। यह देखकर अभय कुमार ने तुरंत ही उस गोमय पिंड को निकालकर उसमें से मुद्रिका को बाहर निकाल लिया। यह देखकर रक्षकों ने यह खबर तुरन्त ही राजा श्रेणिक को दे दी। राजा को बहुत ही आश्चर्य हुआ और अभय कुमार को अपने पास बुलवाया और आलिंगन किया। इसके पश्चात् राजा श्रेणिक ने अपनी बहिन सुसेना की पुत्री, आधा राज्य अभय कुमार को दिया तथा सर्व मंत्रियों के ऊपर मुख्यमंत्री बनाया।[1] (अभयकुमार राजा श्रेणिक का ही पुत्र था।)

राजा श्रेणिक का अभयकुमार मंत्री बहुत ही बुद्धिशाली तथा चार प्रकार की बुद्धि से युक्त था।[2]

महाभारत, रामायण, नीतिवाक्यामृत, अर्थशास्त्र, धर्म-शास्त्र आदि ग्रंथों में मंत्रियों की नियुक्ति का इस प्रकार उल्लेख नहीं मिलता है। इनके

---

१. त्रि. श. पु. च. पृ० ११०

२. ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र पृ० ८
(चार प्रकार की बुद्धि—१. औत्पत्तिकी, २. वैनयिकी, ३. कार्मिकी, ४. परिणामिकी)

अनुसार तो राजा अपनी इच्छानुसार मंत्रियों की नियुक्ति नहीं कर सकता था। अपितु उनकी नियुक्ति करते समय धर्मशास्त्रों एवं अर्थशास्त्रों में उनके सम्बन्ध में निर्धारित नियमों को ध्यान में रखना परम आवश्यक था।

जैन मान्यतानुसार राजा मुख्यमंत्री (प्रधान मंत्री) की नियुक्ति एक नहीं अनेक परीक्षाएँ लेकर भी किया करते थे। उज्जयिनी नगरी का राजा जिसके पास कि ४९९ मंत्री थे, लेकिन वह एक कुशाग्र बुद्धिशाली महामंत्री की खोज में थे। इसके लिए उन्होंने रोहक नामक व्यक्ति को प्रधान मंत्री पद के योग्य समझा। एक दिन अकस्मात राजा अपने साथियों से भटका हुआ एकाकी उस मार्ग पर आया, जिस मार्ग पर भरतनट का पुत्र रोहक बैठा हुआ था। जिसने कि अपनी बुद्धिमता से तथा बाल चंचलता से शुभ्ररेती पर कोटपूर्ण नगरी का नक्शा तैयार किया था। राजा यह देखकर बहुत प्रसन्न हुआ, और उसके चातुर्य को देखकर आश्चर्य-चकित हुआ। राजा महल में आकर राज्यकार्य से निवृत्त होकर सोचने लगा कि मेरे चार सौ निन्यानवे मंत्री हैं, यदि ऐसा कुशाग्र बुद्धिशाली महामंत्री हो जाए तो मैं सुखपूर्वक राज्य चलाने में समर्थ हो सकूँगा। इस प्रकार सोच विचार कर राजा ने कुछ दिनों तक "रोहक" कितना बुद्धि-शाली है इसके लिए १४ प्रकार से रोहक की परीक्षा ली। उसके पश्चात् उसे मुख्यमंत्री पद पर नियुक्त किया।[1]

(III) **मंत्रियों की योग्यता :—**

जैन पुराणों में उल्लिखित है कि राजा मंत्रियों की योग्यता एवं गुणों की पूर्ण रूपेण परीक्षा करके ही मंत्री बनते थे। जैन पुराणों में अमात्य की योग्यता का उल्लेख करते हुए वर्णित है कि उसे निर्भीक, स्वक्रिया तथा पर-क्रिया का ज्ञाता, महाबलवान्, सर्वज्ञ एवं मन्त्रकोविद (मंत्रणा में निपुण) आदि गुणों से युक्त होना चाहिए।[2] प्राचीन आचार्यों ने भी अमात्य के सम्बन्ध में उल्लेख किया है कि उसे ललित कलाओं में निपुण, अर्थशास्त्र का ज्ञाता,

---

१. **नन्दीसूत्र** : सम्पा० मुनि श्री फूलचन्द श्रमण, लुधियाना : आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, १९६६, पृ० १६७-१७३.

२. **पद्म पु०** ८/१६-१७, १५/१२६-३१. ६६/३, १०३/३; **महा पु०** ४/१९०

अन्वय प्राप्त, वाग्मी, शूरवीर, विद्वान्, निर्लोभी, संतोषी, सन्धिविग्रहकोविद, चतुर, वाक्-पटु, उत्साही, प्रभावशाली प्रतिभावान्, मृदुभाषी, वीर, दक्ष, स्मृतिवान्, मेधावी, स्वरयुक्त, धर्मशास्त्र का ज्ञाता, सहिष्णु, स्नेही, पवित्र, स्वाभिमानी, स्वामिभक्त, सुशील, स्वस्थ, समर्थ, दीर्घदर्शी, प्रत्युत्पन्नमति, प्रामाणिक, सत्यवादी, ईमानदार, स्मृति एवं धारणा आदि गुणों से विभूषित होना चाहिए।[1] इनके अलावा ज्ञाता धर्मकथा में मंत्रियों की योग्यता के विषय में कहा गया हैं कि उन्हें साम, दाम दण्ड, और भेद नीति में कुशल, नीतिशास्त्र में पण्डित, गवेषणा में चतुर, कुलीन, श्रुति सम्पन्न पवित्र, अनुरागी, धीर, वीर, निरोग, प्रगल्भवाग्मी, प्रांज्ञ, रागद्वेषरहित, सत्यवादी, महात्मा, दृढ़चित्तवाला, निर्भीक, प्रजा प्रिय, चारों बुद्धि का निधान, कूटनीतिज्ञ, बुद्धविद्याविशारद, अर्थ-शास्त्र विशारद आदि गुणों से युक्त होना आवश्यक बताया गया है।[2] यद्यपि राज्य के सभी कार्यों की अन्तिम जिम्मेदारी राजा की होती थी, लेकिन फिर भी वह मंत्रियों की सलाह मानता था।[3] मंत्रियों का सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य यह होता था कि वह राजा को कुमार्ग से हटाकर सत्मार्ग दिखलाये। राजा को शिक्षा देना मंत्री का प्रथम कर्त्तव्य होता था। खास परिस्थिति में मंत्री अयोग्य राजा को हटाकर उसके स्थान पर दूसरे राजा को गद्दी पर बैठा देता था। बसन्तपुर का राजा जितशत्रु अपनी रानी सुकुमालिया के प्रेम में इतना पागल था कि वह राजकाज की ओर से उदासीन रहने लगा। यह देख मंत्रियों ने उसे निर्वासित कर राजकुमार को सिंहासन पर बैठा दिया।[4] मंत्रिगण राजा के प्रति स्वामी भक्ति की भावना से कार्य करते थे। वे नीति तथा बुद्धि में कुशल होते थे। परामर्श तथा अन्य प्रकार के प्रशासनिक कार्यों में सहयोग देने के साथ-साथ न्यायकार्य को भी देखते थे।[5]

---

१. अर्थशास्त्र १/९ पृ० २२ महाभारत शान्तिपर्व ११८/७-१४ शुक्र २/५२-५४. व्यवहार भाष्य १ पृ० १३१

२. ज्ञाता धर्मकथांगसूत्र १ पृ० ८.

३. महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ८३/५०-५२.

४. आ० चूर्णी पृ० ५३४, निशीथ चूर्णी ११, ३७६५.

५. समराइच्चकहा ४, पृ० २५७-५८, ५९, २७२.

(१) **मंत्रि परिषद : सदस्यों की संख्या** :—

अमात्यों के बिना राज्यकार्य सम्भव नहीं है, इसलिए अमात्यों की नियुक्ति की जाती है। सभी अमात्यों को मिलाकर मंत्रिमण्डल बनता है। कौटिल्य ने मंत्रियों की सभा को "परिषद", बौद्ध जातकों में "महावस्तु" तथा अशोक के शिलालेखों में "पारिता" वर्णित है।[1] आधुनिक युग में परिषद को ही मंत्रिमंडल या मंत्रिपरिषद कहते हैं। जैन पुराणों के अनुसार मंत्रिमण्डल के सदस्यों की निम्नतम संख्या चार एवं अधिकतम संख्या सात होती थी।[2] ऐसे राजा के ५०० मंत्री तक होते थे लेकिन मंत्रिमण्डल में मंत्रियों की संख्या सामान्यतः निश्चित होती थी। राजा श्रेषिक के ४९९ मंत्री तथा एक महामंत्री अभयकुमार था इस प्रकार राजा श्रेणिक के मंत्रियों की संख्या ५०० थी।[3] महाभारत में मंत्रियों की संख्या आठ बताई गई है।[4] मनु के अनुसार मंत्रिपरिषद में मंत्रियों की संख्या सात या आठ होनी चाहिए।[5] यशस्तिलक चम्पू में राजा को एक ही मंत्री पर पूर्ण रूप से निर्भर न रहने की बात कही गई है। जिसका मतलब है कि अवश्य ही मंत्रियों की संख्या अधिक रही होगी।[6] मनु[7] और कौटिल्य[8] इस बात पर सहमत है कि राज्य की आवश्यकतानुसार मंत्रियों की संख्या निश्चित की जानी चाहिए।

पद्म पुराण में उल्लिखित है कि मंत्रिमण्डल का प्रधान मुख्यमंत्री हाता था इसके अधीनस्थ अन्य मंत्री होते थे।[9] राजा धर्मासन पर बैठकर मंत्रियों के साथ विचारविमर्श करता था।[10]

---

१. काशीप्रसाद जायसवाल—**हिन्दू राजतंत्र**, पृ ११३-११४.

२. महा पु० ४/१९०, पद्म पु० ८/४८७.

३. त्रि० श० पु० च० भाग १० पृ० १०९-११०.

४. **महाभारत शान्तिपर्व** ३५/११. **अष्टानां मंत्रिणा मध्ये मंत्र राजोपधायेत्** ॥

५. **मनुस्मृति** ७/५४

६. के०के० हैंडीकी : यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, सोलापुर १९६८ पृ० १०१.

७, मनु ७/६१

८. अर्थशास्त्र १/१५ पृ० ४४ यथा सामर्थ्यमिति कौटिल्यः.

९. पद्म पु० ७३/२५, तुलनीयः—मनु ७/१४१, **महाभारत शान्तिपर्व** ८१/२१; निशीथचूर्णि ३ पृ० ५७.

१०. पद्म पु० १०९/१४९, तुलनीय-ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र १ पृ० ८.

मन्त्रि परिषद के कार्य

राज्याधिष्ठान में अमात्य अथवा मन्त्री का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण होता था। वह अपने जनपद, नगर और राजा के सम्बन्ध में सदा चिन्तित रहता तथा व्यवहार और नीति में निपुण होता।[1]

आचार्य कौटिल्य ने लिखा है कि कार्य के प्रारम्भ करने के उपाय, मनुष्यों और धन का कार्यों के लिए विनियोग, कार्यों को करने के लिए कौन-सा प्रदेश व कौन-सा समय प्रस्तुत किया जाये, कार्य सिद्धि के मार्ग में आने वाली विपत्तियों का निवारण और कार्यों की सिद्धि ये मन्त्र (राजकीय परामर्श) के पाँच अंग होते हैं। इन्हीं कार्यों के लिए मन्त्रि-परिषद की आवश्यकता होती है। इस प्रकार आचार्य कौटिल्य ने मन्त्रि-परिषद के पाँच कार्य बतलाये हैं।[2]

जैन मान्यतानुसार भी मंत्रियों के बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य होते थे। राजा श्रेणिक का प्रधानमंत्री अभयकुमार साम, दाम, दण्ड और भेद में कुशल और नीतिशास्त्र में पण्डित, गवेषणा आदि में चतुर, अर्थशास्त्र में विशारद तथा औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कार्मिकी और पारिणामिकी नामक चार प्रकार की बुद्धियों में निष्णात था। राजा श्रेणिक अपने अनेक कार्यों और गुप्त रहस्यों के बारे में अभय कुमार से मंत्रणा किया करते थे। राजा श्रेणिक जब चेटक की पुत्री सुज्येष्ठा को प्राप्त करने में असफल रहा तो उसने अपने मंत्री अभय कुमार को अपनी सारी बात से अवगत कराकर उसे वैशाली रवाना किया।

अभयकुमार ने वणिक का वेश धारण कर तथा अपना स्वर और वर्ण बदलकर वह राजा के कन्या अन्तःपुर के पास दुकान लेकर रहने लगा। (इस वाक्य से विदित होता है कि मंत्री राजा की इच्छा तथा कार्यों की पूर्ति करने के लिए समयानुसार वेश परिवर्तन, वर्ण परिवर्तन तथा स्वर में परिवर्तन कर लेते थे जिससे कोई उसे पहचान न सके।)

अभय कुमार ने दान, मान आदि द्वारा शीघ्र ही अन्तःपुर की दासियों

---

१. सजणवयं पुरवरं चिन्ततो अत्थइ नरवर्ति च।
व्यवहार नीति कुसलो, अमच्चों एयारिसो अहवा। व्यवहारभाष्य पृ० १३१ अ० तथा कौ० अर्थ० १ अ० ८-९.

२. कौ० अर्थ० १ अ० १५ पृ० ४३.

को अपने वश में कर लिया। फिर एक दिन उसने राजा श्रेणिक के चित्रपट को अन्तःपुर में भिजवा दिया जिसे देख सुज्येष्ठा और चेल्लणा दोनों बहिनें श्रेणिक पर मुग्ध हो गयीं। तत्पश्चात् अभय कुमार ने अन्तःपुर तक एक सुरंग खुदवाई और चेल्लणा को प्राप्त करने में सफल हुआ।[1]

इसके अलावा अभय कुमार ने कई बार राजनैतिक संकटों से श्रेणिक की रक्षा की। एक बार उज्जयिनी के राजा चंडप्रद्योत ने चौदह राजाओं के साथ राजगृह पर आक्रमण किया। अभय कुमार ने उस समय राज्य का रक्षण किया था। उसने जहाँ शत्रु का शिविर लगता था, वहाँ पहले ही स्वर्ण मुद्राएँ गड़वा दीं। जब चण्डप्रद्योत ने आकर राजगृह को घेरा तो अभयकुमार ने सूचना करवाई कि "मैं आपका हितैषी होकर यह सूचना कर रहा हूँ कि आपके साथी राजा श्रेणिक से मिल गये हैं। अतः वह आपको पकड़कर श्रेणिक को सुपुर्द करने वाले हैं। श्रेणिक ने उनको बहुत धनराशि दी है। विश्वास न हो तो आप अपने शिविर की भूमि खुदवा कर देख लें।"

चण्डप्रद्योत ने भूमि खुदवाई तो उसे उस स्थान पर गड़ी हुई स्वर्ण मुद्राएँ मिलीं। भय खाकर वह ज्यों का त्यों ही उज्जयिनी लौट गया।[2]

मंत्री समय-समय पर राजा को सत्परामर्श भी दिया करते थे। महापद्म नाम का नौवाँ नंद पाटलिपुत्र में राज्य करता था। कप्पक की नौवीं पीढ़ी में उत्पन्न सगडाल उसका मंत्री का। उसके थूल-भद्द और तिरअक नाम के दो पुत्र तथा जक्खा, जक्खदिण्णा, भूया भूयदिण्णा, तेणा, वेण और सेणा नामकी सात पुत्रियाँ थीं। पाटलिपुत्र में वररुचि नाम का एक ब्राह्मण रहता था। वह प्रतिदिन १०८ नये श्लोक बनाकर नंद राजा की स्तुति करता था और राजा उसके बदले में उसे १०८ सुवर्ण मुद्राएँ देता था। सगडाल मंत्री ने देखा और सोचा कि इस तरह तो राजकोष बहुत जल्दी रिक्त जायेगा। इसलिए उसने एक योजना बनाई। उसकी सातों ही पुत्रियाँ बड़ी बुद्धिमान थीं। पहली पुत्री एक बार सुनकर, इसी तरह क्रमशः सातों पुत्रियाँ सात बार सुनकर याद कर देती थीं। उसने एक बार वररुचि के श्लोक सुनने के समय अपनी सातों पुत्रियों को पर्दों की आड़ में बिठा दिया। इन सातों ने श्लोक सुनकर याद कर

---

१. आ० चूर्णी० उ० पृ० १६५. इत्यादि।
२. त्रि० श० पु० च० मूल श्लो० १८४.

लिये और राजा को ज्यों के त्यों कह सुनाये। इस पर राजा ने वररुचि को दान देना बन्द कर दिया।[1] इस प्रकार सगडाल मंत्री ने राजकोष के खाली होने से पूर्व की उसकी रक्षा कर ली थी।

इसके अलावा आन्तरिक उपद्रवों और बाह्य आक्रमणों से राज्य की रक्षा करने के लिए मंत्रीगण गुप्तचरों को धनादि देकर नियुक्त करते थे। सूचक, अन्तःपुर के रक्षकों के साथ मैत्री करके अन्तःपुर के रहस्यों का पता लगाते, अनुसूचक नगर के परदेशी गुप्तचरों की तलाश में रहते। प्रतिसूचक नगर के द्वार पर बैठकर दर्जी आदि का छोटा-मोटा काम करते हुए दुश्मन की ताक में रहते तथा सर्वसूचक, सूचक, अनुसूचक और प्रतिसूचक से सब समाचार प्राप्त कर अमात्य से निवेदन करते। ये गुप्तचर सभी पुरुषों और कभी महिलाओं के रूप में सामन्त राज्यों और सामन्त नगरों तथा अपने राज्य, अपने नगरों और राजा के अन्तःपुर में गुप्त रहस्यों का पता लगाने के लिये घूमते रहते।[2]

हरिवंश पुराण के अनुसार मंत्री राजा की अत्यन्त निकटस्थ आपत्तियों से रक्षा करते थे।[3] पद्म पुराण में तो यह भी वर्णित है कि मंत्री राजकन्या के लिए योग्य वर के चयनार्थ परामर्श भी देते थे।[4] जैन पुराणों के अनुसार मंत्रीगण तन्त्र (स्वराष्ट्र) और अवाय (परराष्ट्र) के सम्बन्ध में राजा के साथ नीति-निर्धारण करते थे।[5]

जैन मान्यतानुसार मंत्री शत्रु को पराजित कर, राज्य की रक्षा के लिये सदैव प्रयत्नशील रहते। कभी कूटनीति से राजा मंत्री को झूठमूठ ही सभासदों के सामने अपमानित कर राज्य से निकाल देता। ऐसी परिस्थिति में यह मंत्री विपक्षी राजा से जा मिलता था। फिर वहाँ शनैः शनैः उसका विश्वासपात्र बनकर उसे पराजित करके ही लौटता था। भृगुकच्छ के राजा नहपान और प्रतिष्ठान के राजा शालिवाहन दोनों में कुछ

---

१. आ० चूर्णी उ० पृ० १८३-१८४.
२. व्यवहार भाष्य १ पृ० १३० अ० इत्यादि।
३. हरिवंश पु० १४/६६.
४. पद्म पु० १५/२६.
५. पद्म पु० १०३/६। तन्त्रापाय महाभारं ततः प्रभृति भूपतिः।
महा पु० ४६/७२)

अनबन चलती रहती थी। नहपान के पास माल-खजाना बहुत था। और शालिवाहन के पास सेना बहुत थी। एक बार शालिवाहन ने नहपान की नगरी पर आक्रमण कर उसे चारों ओर से घेर लिया। लेकिन नहपान ने इस अवसर पर अपने सारे खजाने के द्वार खोल दिये। और जो सिपाही शत्रु के सैनिकों के सिर काट कर लाते, उन्हें वह माला-माल कर देता था। इससे शालिवाहन के सैनिकों को बहुत क्षति उठानी पड़ी और वह हार कर लौट गया। इस तरह कई वर्ष तक होता रहा। एक दिन शालिवाहन ने अपने मंत्री को लड़-भिड़कर देश से बाहर निकाल दिया। मंत्री भृगुकच्छ पहुँचकर नहपान से मिल गया। और धीरे-धीरे राजा का विश्वास प्राप्त कर वह वह मन्त्री के पद पर आसीन हो गया। वहाँ रहकर उसने स्तूप, तालाब, वापी देवकुल आदि के निर्माण में नहपान का अधिकांश धन लगवा दिया, और जो शेष रहा उससे रानियों के आभूषण बनवा दिये। इस प्रकार नहपान का सारा खजाना खाली हो जाने पर शालिवाहन के पास सूचना भेज दी। शालिवाहन सूचना पाते ही सेना लेकर नहपान के राज्य पर चढ़ आया और नहपान को युद्ध में हरा दिया।[1]

इसके अलावा राजकार्यों में सत्परामर्श देना मंत्रियों का प्रधान कर्त्तव्य होता था। मनु ने लिखा है कि इन सचिवों के साथ राजा को राज्य की विभिन्न विकट परिस्थितियों में तथा सामान्य, सन्धि, विग्रह, राष्ट्ररक्षा तथा सत्पात्रों आदि को धन देने के कार्य में नित्य परामर्श करना चाहिए।[2] इस प्रकार प्रत्येक कार्य मन्त्रियों के परामर्श से करने में राज्य का कल्याण होता है। यद्यपि राजा को प्रत्येक कार्य मंत्रिपरिषद के परामर्श से करने का विधान था, किन्तु राजा इन मन्त्रियों के परामर्श को मानने के लिए बाध्य नहीं था। मंत्रियों से परामर्श करने के उपरान्त उसको अपना व्यक्तिगत निर्णय देने का अधिकार स्मृतिकारों ने राजा को प्रदान किया है।[3] किंतु राजा इन मंत्रियों के परामर्श का उल्लंघन उसी समय कर सकता था जबकि उनके परामर्श में एकरूपता न हो और वह राष्ट्र के हित के लिए अपना निर्णय अधिक उपयोगी समझता हो।

---

१. आ० चू० २ पृ० २०० इत्यादि।

२ मनु ७/५८.

३. वही ७/५७.

इसका अभिप्राय यह नहीं है कि मन्त्रिपरिषद का राजा के समक्ष कोई अस्तित्त्व ही नहीं था। राजा सैद्धान्तिक रूप से तो यह अधिकार रखता था कि मन्त्रिपरिषद के परामर्श को वह माने या न माने, परन्तु मन्त्रिपरिषद में विभिन्न विभागों के विशेष मंत्रियों के होने के कारण वह उनके निर्णय को महत्त्व देता था और साधारणतः उसके अनुसार ही कार्य करता था। आचार्य सोमदेव ने लिखा है कि "राजाओं को अपने समस्त कार्यों का प्रारम्भ सुयोग्य मंत्रियों की मन्त्रणा से ही करना चाहिए।[1]

मंत्रियों के कार्यों का उल्लेख करते हुये आचार्य सोमदेव लिखते हैं कि बिना प्रारम्भ किये कार्यों को प्रारम्भ करना, प्रारम्भ किये हुए कार्यों को पूर्ण करना और जो पूर्ण हो चुके हैं उनमें कुछ विशेषता उत्पन्न करना तथा अपने अधिकार का उचित स्थान में प्रभाव दिखाना ये मंत्रियों के प्रमुख कार्य हैं।[2]

मंत्री का यह कर्त्तव्य है कि राजा को सदैव सत्परामर्श ही दे और उसे कभी अकार्य का उपदेश न दे। जैन मान्यतानुसार मंत्री को राजा के लिए दुःख देना उत्तम है, किन्तु वह भविष्य में हितकारक होना चाहिए। जो मंत्री तत्काल अप्रिय लगने वाले कठोर किन्तु हितकारक वचन बोलकर राजा को दुःखी करता है तो वह उत्तम है, परन्तु अकर्त्तव्य का उपदेश देकर राजा का विनाश करना अच्छा नहीं है। जैन मान्यतानुसार मंत्री राजा को शिक्षा देता था तथा खास परिस्थितियों में अयोग्य राजा को हटाकर उसके स्थान पर दूसरे राजा को गद्दी पर बैठाता था।

(ख) **कोष** :—

शासन सत्ता की सुव्यवस्था एवं स्थायित्व के लिए कोष को राज्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग बताया गया है। कोष विपत्ति के समय में राजा और प्रजा दोनों की रक्षा करता है। कोष का अधिकारी भाण्डागारिक होता था। वह भण्डागार की व्यवस्था का बराबर ध्यान रखता था। उसकी राय से ही भाण्डागार से धन आदि खर्च किया जाता था लेकिन भाण्डागार का सर्वोच्च अधिकारी तो राजा ही होता था। कौटिल्य

---

१. **नीतिवाक्यामृत में राजनीति** पृ० १०२.

२. वही

अर्थशास्त्र में कोष के अधिकारी को कोषाध्यक्ष कहा गया है।[1] कोष की उत्पत्ति राजा के साथ ही हुई है। जैसा कि महाभारत के वर्णन से प्रकट होता है कि प्रजा ने मनु के कोष के लिए पशु और हिरण्य का पाँचवाँ भाग तथा धान्य का दसवाँ भाग देना स्वीकार किया था।[2] कोष को भाण्डार आदि अन्य नामों से भी जैन पुराणों में उल्लिखित किया गया है। आदि पुराण में कोष के लिए श्रीगृह[3] शब्द का प्रयोग हुआ है। निशीथ सूत्र में उल्लिखित है कि कोष में मणि, मुक्ता और रत्नों का संचय किया जाता था।[4] महाभारत[5], कामंदक नीतिसार[6] और नीतिवाक्यामृत[7] में कहा गया है कि कोष राज्य की जड़ होती है। इसलिए इसकी देख-रेख यत्नपूर्वक करनी चाहिए। अभिलेखों में भी भाण्डागारिक का उल्लेख किया गया है। नासिक अभिलेख में इसका भाडागारिकया के रूप में उल्लेख मिलता है।[8] कन्नौज नृपति के चन्द्रावती अभिलेख (संवत् ११४८) में भाण्डागारिक का उल्लेख है।[9] आचार्य सोमदेव लिखते हैं कि कोष ही राजाओं का प्राण है।[10] संचित कोष संकट काल में राष्ट्र की रक्षा करता है।

(१) राजकर व्यवस्था :

कानूनी टैक्स—

जैन मान्यतानुसार प्राचीन समय में लगान और कर के द्वारा राज्य का खर्च चलता था तथा इसी से राजकोष को भरा जाता था।

---

१. **कौटिल्य अर्थशास्त्र** ११/२६, पृ० ११६.
२. महा० शान्ति० ६७/२३-२४
३. आदि पु० ३७-८५
४. **निशीथ सूत्र** ६/७
५. **महाभारत शान्तिपर्व**, १३०/३५
६. **कामंदक** ३१/३३
७. **नीतिवाक्यामृत**, २१/५.
८. **समराइच्चकहा : एक सांस्कृतिक अध्ययन** पृ० ६३
९. वही
१०. **नीतिवाक्यामृतम्** २२/५.

व्यवहार भाष्य में साधारणतया पैदावार के दसवें हिस्से को कानूनी टैक्स स्वीकार किया गया है।[1] वैसे पैदावार की राशि, फसल की कीमत, बाजारभाव और खेत की जमीन आदि के कारण टैक्स की दर में अन्तर होता रहता था। खेत और गाय आदि के अतिरिक्त प्रत्येक घर से भी टैक्स वसूल किया जाता था। राजगृह में किसी वणिक ने पक्की ईंटों का मकान वनवाया लेकिन गृह निर्माण पूरा होते ही वणिक मर गया। उसके पश्चात् वणिक के पुत्र बड़ी मुश्किल से अपनी आजीविका चला पाते थे। ऐसी हालत में भी उन्हें नियमानुसार राजा को एक रुपया कर देना आवश्यक था। इस परिस्थिति से तंग आकर वे अपने घर के पास ही एक झोंपड़ी बनाकर रहने लगे। और अपना घर जैन श्रमणों को रहने के लिये दे दिया।[2] जान पड़ता है कि शूवरिक नगर के वणिक लोगों में कर देने की प्रथा का प्रचलन नहीं था। यहाँ पर वणिकों के ५०० परिवार रहते थे। एक बार राजा ने प्रत्येक परिवार के ऊपर एक-एक रुपया कर लगा दिया। वणिकों ने सोचा कि यदि यह कर चल पड़ा तो उनकी पीढ़ी दर पीढ़ी को इसे देते रहना पड़ेगा। यह सोचकर वे अग्नि में प्रवेश कर गये।[3]

व्यापारियों के माल-असबाब पर भी कर लगाया जाता था। बिक्री के माल पर लगाये जाने वाले टैक्स को शुल्क कहते थे। किसी व्यापारी के पास बीस कीमती बर्तन थे, उनमें से एक बर्तन राजा को देकर वह कर से मुक्त हो गया।[4] चम्पा नगरी के जल पोत वणिक बाहर से धन कमाकर लौटे और गंभीरपोतपट्टन में उत्तर मिथिला नगरी में आये। राजा के लिये बहुमूल्य कुण्डल युगल का उपहार लेकर वे उससे भेंट करने चले। राजा कुण्डल युगल देखकर बहुत प्रसन्न हुआ। उसने उनका विपुल अशन, पानी आदि द्वारा सत्कार किया और उनका कर (शुल्क) माफ कर दिया।[5] (इस कथन से ज्ञात होता है कि प्राचीन समय में व्यापारी राजाओं के

---

१. व्यवहार भाष्य १ पृ० १०८ आ०

२. वही ३, ४७७०

३. नि० भाष्य १६, ५१५६.

४. नि० भाष्य २०, ६५२१

५. ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र ८, पृ० २७२

सामने कीमती उपहार आदि भेंट करने से राजा उनसे खुश हो जाते थे तथा उनका कर भी माफ कर देते थे ।)

आजकल की भांति प्राचीन समय में भी व्यापारी लोग माल को छिपा लेते और टैक्स से बचने की कोशिश करते थे । अचल नाम का एक व्यापारी था । पारसकुल से वह धन कमाकर वेन्यातट लौटा । और हिरण्य, सुवर्ण और मोतियों का थाल भरकर वह राजा के पास पहुंचा । राजा पंचकुलों के साथ ले उसके माल की परीक्षा करने आया । अचल ने शंख, सुपारी, चंदन, अगुरू, मंजीठ आदि अपना माल दिखा दिया; लेकिन राजा को शंका हुई तो बोरों को तुलवाया तो वे भारी मालूम दिये । राजकर्मचारियों ने पाँव की ठोकर और बाँस की डंडी से पता लगाया तब मालूम हुआ कि मंजीठ के अन्दर सोना, चांदी, मणि, मुक्ता और प्रवाल आदि कीमती सामान छिपा हुआ है । यह देखकर राजा ने अचल को गिरफ्तार करने का हुक्म दिया ।[1]

नीतिवाक्यामृत में भी भूमिकर के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं पर लगने वाले कर भी राज्य की आय के साधन थे । शुल्क से राज्य को पर्याप्त धन प्राप्त होता था । विक्रेता और क्रेता से राजा को जो भाग प्राप्त होता वह शुल्क कहलाता है । शुल्क प्राप्ति के स्थान हट्टमार्ग (चुंगी-स्थान) आदि हैं । इन स्थानों का सुरक्षित होना आवश्यक है । इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि वहाँ पर न्यायोचित कर ही ग्रहण किया जाये । यदि वहाँ पर किसी भी प्रकार का अन्याय होगा तो व्यापारी लोग अपना माल लाना बंद कर देंगे । और इससे राजकीय आय को क्षति पहुंचेगी । आचार्य सोमदेव लिखते हैं कि आय के स्थान में व्यापारियों में थोड़ा सा भी अन्याय का धन ग्रहण करने से राजा को महान आर्थिक हानि होती है, क्योंकि व्यापारियों के क्रय-विक्रय के माल पर अधिक कर लगाने से वे लोग भारी कर के भय से व्यापार बंद कर देते हैं या छल-कपट का व्यवहार करते हैं जिसके फलस्वरूप राज्य को भारी हानि होती है ।[2]

---

१. उत्तराध्ययन टीका, अ० ३ । कौटिल्य ने अर्थशास्त्र (२/२१/३९, पृ० १७८) में बताया है कि बढ़िया माल को छिपाने वाले का सारा माल जब्त कर लेना चाहिए ।

२. नीतिवाक्यामृतम् १४/१४.

करों के प्रकार:—

जैन सूत्रों में अठारह प्रकार के करों का उल्लेख है। (१) गोकर (गाय बेचकर दिया जाने वाला कर), महिषकर, उष्ट्रकर, पशुकर, छगलोकर (बकरा), तृणकर, पलालकर (पुवाल), बुसकर (भूसा), काष्ठकर, अङ्गारकर, सीताकर (हल पर लिया जाने वाला कर) उंबर कर[1] (देहली अथवा प्रत्येक घर से लिया जाने वाला कर), जंधाकर (अथवा जंगाकर: चरागाह पर लिया जाने वाला कर): बलीवर्दकर (बैल), घटकर, चर्मकर, चुल्लगकर (भोजन) और अपनी इच्छा से दिया जाने वाला कर। ये कर गाँवों में ही वसूल किये जाते थे और नगर इनसे मुक्त रहते।[2] कर वसूल करने वाले कर्मचारी शुल्कपाल (गोमिया-सुंकिया) कहे जाते थे। पुत्रोत्पत्ति, राज्याभिषेक आदि शुभ अवसरों पर कर माफ कर दिया जाता था।

अर्थशास्त्र में बाईस प्रकार के राजकर बताये गये हैं।[3]

राजकोष को समृद्ध बनाने के अन्य उपाय :—

राजकोष को समृद्ध बनाने के और भी उपाय थे। यदि कोई व्यक्ति कोई कार्य करवाना चाहता तो उससे पूर्व वह राजा की मंजूरी लेने के लिए मूल्यवान उपहार लेकर राजा के पास जाता था। राजगृह का नन्द नामक मणियार श्रेष्ठी नगर में एक पुष्करिणी खुदवाना चाहता था। इसलिए वह अपने मित्रों से परिवेष्ठित हो कोई मूल्यवान उपहार लेकर राजा श्रेणिक के पास पहुंचा और पुष्करिणी खुदवाने की आज्ञा (अनुमति) प्राप्त की।[4] चम्पानगरी के सुवर्णकार कुमारनन्दि ने पंचशैल द्वीप के लिए प्रस्थान करने की घोषणा करने से पूर्व राजा की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक समझा। इसलिए सुवर्ण आदि बहुमूल्य उपहार लेकर वह

---

१. **बृहत्कल्प भाष्य** टीका, मलयगिरि और हेमकीर्ति ; पुण्यविजय, भावनगर, आत्मानंद जैन सभा ; १९३३-३८, उ० ४७७०.

२. वही १, १०८९ नत्थेत्थ करो नगर

३. **कौटिल्य अर्थशास्त्र** २/६ पृ० ८९.

४. **ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र** अ० १३ पृ० ३८४.

राजा की सेवा में उपस्थित हुआ और अनुमति मिल जाने पर यात्रा के लिए रवाना हुआ।[1]

इसके अलावा यदि कभी किसी व्यक्ति की सम्पत्ति का कोई वारिस नहीं होता या कहीं पर गड़ी हुई निधि मिल जाती तो उस पर भी राजा का अधिकार होता था। चन्द्रकान्ता नगरी के राजा विजयसेन को जब पता चला कि किसी व्यापारी की मृत्यु हो गई है और उसकी सम्पत्ति का कोई वारिस नहीं है तो राजा ने कर्मचारियों को भेजकर उसकी सम्पत्ति पर कब्जा कर लिया।[2] लेकिन कुमारपाल ने अपने शासन में इस प्रथा का अंत कर दिया।[3]

(ग) सेना या बल :—

प्राचीन समय में आंतरिक विद्रोह की शान्ति एवं बाह्य आक्रमण से राज्य की सुरक्षा के लिये सेना की उचित व्यवस्था होती थी। अर्थशास्त्र में सैन्य बल को "दण्ड" कहा गया है।[4] राजा, महाराजाओं के पास चतुरंगिणी सेना की उचित व्यवस्था होती थी। जैन मान्यतानुसार भरत ने सर्व प्रथम चतुरंगिणी सेना की स्थापना की थी।[5] चतुरंगिणी सेना के अन्तर्गत रथ, हस्ति, अश्व और पदाति सैनिक होते थे। कन्या के विवाह में यह वस्तुएँ दहेज में दी जाती थीं। उस समय समस्त सेना सेनापति के नियंत्रण में रहती थी। उस समय सेना में व्यवस्था और अनुशासन कायम रखने के लिए सेनापति हमेशा सचेष्ट रहता था। युद्ध के अवसर पर राजा की आज्ञा पाकर वह चतुरंगिणी सेना को सुसज्जित कर कूच के लिए तैयार रहता था। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में भरत चक्रवर्ती के सुषेण नामक सेनापति था। आ० चूर्णी में उसका विश्रुतयश, म्लेच्छ भाषा में विशारद, मधुर भाषी और अर्थशास्त्र के पण्डित के रूप में उल्लेख किया है।[6]

---

१. उत्तराध्ययन टीका १८.

२. कल्पसूत्र: टीका: समयसुन्दरगणि, बम्बई १९३९, १, आधार जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज पृ ११२-११३

३. कुमारपाल चरित्र संग्रह पृ० २३.

४. अर्थशास्त्र ६, १, पृ० ४१८

५. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति पृ १८४

६. आ० चूर्णी पृ० १९०.

(क) चतुरंगिणी सेना के अंग

१. पदाति सेना :—

चतुरंगिणी सेना के अन्तर्गत पदाति सैनिक होते थे। कौटिल्य ने मौल (स्थानीय), भृत (वेतनभोगी), श्रेणी (प्रान्त में भिन्न-भिन्न स्थानों पर रहने वाले), मित्रबल, अमित्र बल (शत्रुसेना) और अटवीबल नाम के पदातियों का उल्लेख किया गया है।[1] वे लोग हाथ में तलवार, भाला, धनुष, बाण आदि लेकर चलते तथा बाण आदि के प्रहार से रक्षा के लिए सन्नद्ध-वद्ध होकर चर्म और कवच धारण किये रहते, भुजाओं पर चर्मपट्ट बाँधे रहते तथा उनकी ग्रीवा आभरण तथा मस्तक वीरता सूचक पट्ट से शोभित रहता।[2] योद्धा लोग धनुष-बाण चलाते समय आलाढे, प्रत्यालीढ, वैशाखा, मंडल और समपाद नाम के आसन स्वीकार करते थे।[3] रामायण में मौल, भृत्य, मित्र और अटवी इन चार प्रकार की सेनाओं तथा महाभारत में मौल, भृत्य, अटवी और श्रेणी बल का उल्लेख है। वंशक्रम से आयी हुई सेना पैतृक अथवा मौल कहलाती है, धन देकर एकत्र की गई सेना भृत्य, मैत्री भाव से एकत्र की गयी सेना मित्र, निश्चित समय पर सहायता देने वाली सेना को श्रेणी, पर्वत एवं अरण्य प्रदेशों में रहने वाले निषाद, मिल्ल, शबर आदि से संगठित की गयी सेना को आटविक एवं शत्रु सेना से आक्रांत होकर भागे हुए सैनिक यदि दस्यु भाव स्वीकार कर ले तो उनके द्वारा संगठित की गयी सेना अमित्र कहलाती थी।[4]

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में भी चतुरंगिणी सेना का उल्लेख मिलता है।[5] भरत चक्रवर्ती जब दिग्विजय के लिये रवाना हुये थे तो उनकी चतुरंगिणी सेना में भी पदाति सेना सर्व प्रमुख थी।

---

१. अर्थशास्त्र २/३३ पृ० २२६.

२. औपपातिक सूत्र ३१ पृ० १३२ विपाक सूत्र २.

३. निशीथ भाष्य २०, ६३००

४. नेमिचन्द्र शास्त्री : आदि पुराण में प्रतिपादित भारत बाराणसी : १९१८, पृ० ३६८.

५. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति पृ० १८४.

II. अश्व सेना :—

अश्व सेना भी चतुरंगिणी सेना का एक विशिष्ट अंग होता था। अश्व सैनिक बहुत ही चुस्त एवं फुर्तीले होते थे। अश्व का प्रधान अधिकारी महाश्वपति कहलाता था। कहीं-कहीं पर अश्वपति भी कहा गया है। घोड़े तेज दौड़ते थे तथा शत्रु सेना पर पहले से ही आक्रमण कर देते, शत्रु की सेना में घुस कर सेना को विचलित कर देते थे। अपनी सेना को सान्त्वना देते रहते और शत्रुसेना द्वारा पकड़े हुए अपने योद्धाओं को छुड़ाते, शत्रु के कोष और राजकुमार का अपहरण कर लेते, जिनके घोड़े मर गये हैं ऐसे सैनिकों का पीछा करते तथा भागी हुई शत्रु सेना के पीछे भागते थे।[1]

घोड़े कितने ही किस्मों के होते थे तथा विभिन्न देशों से लाये जाते थे। कंबोज देश के आकीर्ण और कन्थक घोड़े प्रसिद्ध थे। दोनो ही दौड़ने में तेज होते थे। आकीर्ण[2] ऊँची नस्ल के होते तथा कंथक पत्थर आदि की आवाज से नहीं डरते थे। वाह्लीक देश में पाये जाने वाले ऊँची नस्ल के घोड़े अश्व कहे जाते, इनका शरीर मूत्र आदि से लिप्त नहीं रहता था।[3] गलिया अश्व का भी उल्लेख मिलता है। उसे बार-बार चाबुक मार कर और आरी से चलाने की जरूरत होती थी। यह गायों को देखकर उनके पीछे दौड़ने लगते और रस्सा छुड़ाकर भाग जाते थे।[4] आदि पुराण में कम्बोज, सैन्धव, आरट्टज, वाह्लीक, तैतिस, गांधार और वाप्य आदि जाति के अश्वों को युद्ध के लिए उपयोगी बताया गया है।[5] महाभारत में अश्वों को शीघ्र गतिवाला तथा उत्साही बनाने के लिए युद्ध के समय मदिरापान कराये जाने का उल्लेख है।[6]

घोड़े कवच से सज्जित रहते, उत्तरकंचुक धारण किये रहते, आँखें उनकी शुक्ल वर्ण की होतीं, मुँह पर आभरण लटका रहता और उनका

---

१. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज पृ० १०१.

२. ज्ञातृधर्मकथा की टीका में आकीर्ण घोड़ों को "समुद्रमध्यवर्ती" बताया है।

३. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति २, पृ० ११०, अः उत्तराध्ययन टीका अ० ३, तथा रामायण १/६/२२.

४. उत्तराध्ययन सूत्र १, १२, २७वां अनुकीय अध्ययन.

५. महा पु० ३०/१०७.

६. महाभारत द्रोणपर्व ११२/५४-५५

कटिभाग चामर-दण्ड से अलंकृत रहता था।[1] घोड़ों की जीन थिल्ली कही जाती थी।[2]

घोड़ों को शिक्षा दी जाती थी।[3] बहलि (वाह्लीक) के घोड़ों को शिक्षा देने का उल्लेख मिलता है। शिक्षा देने के स्थान को वाहियालि कहा जाता था। अश्वदमग, अश्वमेढ और अश्वारोह शिक्षा देने का काम करते थे।[4] सोलग घोड़ों की देखभाल किया करते थे।[5] कालिय द्वीप के घोड़े प्रसिद्ध समझे जाते थे। व्यापारी लोग अपने दल-बल सहित घोड़े पकड़ने के लिये यहां आया करते थे। ये लोग वीणा आदि बजाकर, अनेक काष्ट और गुंथी हुई आकर्षक वस्तुएँ दिखाकर, कोष्ट, तमालपत्र, चुवा, तगर, चंदन, कुंकुम, आदि सुंघाकर, खाण्ड, गुड़, शर्करा, मिश्री आदि खिलाकर, कंबल, प्रावरण, जीन, पुस्त आदि छुआकर उन्हें आकृष्ट करते। बाद में अश्वमर्दक लगाम (अहिलाण), जीन (पडियाण) आदि द्वारा उनके मुँह, कान, नाक, बाल, खुर और टाँग बाँधकर, कोड़ों से उन्हें वश में करते और लोहे की गर्म सलाई से उन्हें दागते (अंकणा) थे।[6]

घोड़ों पर चढ़कर लोग अश्ववाहिनिका के लिये जाते थे।[7] लंघन (कूदना), वल्गन (गोलाकार घूमना), उत्प्लवन, धावन, धोरण (दुलकी, सरपट आदि चाल से चलना), त्रिपदी (जमीन पर तीन पैर रखना), जविनी (वेगवती) और शिक्षिता गतियों से घोड़े चलते।[8] सर्व लक्षणों से सम्पन्न घोड़ों का उल्लेख भी मिलता है जिन पर कि सामंत राजाओं की

---

१. **विपाक सूत्र** २, **औपपातिक सूत्र** ३१, पृ० १३२.

२. कहीं पर दो घोड़ों की गाड़ी को "थिल्ली" कहा गया है। **जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति** वक्ष० २. पृ० १२३.

३. **आवश्यक टीका** हरिभद्र, बम्बई; आगमोदय समिति १९१६. पृ० २६१, आ० चू० पृ० ३४३-४४.

४. नि० चूर्णी ९, २३-२४, **अर्थशास्त्र** २/३० में इसकी चर्चा है।

५. **बृहत्कल्पभाष्य** १/२०६६.

६. **ज्ञाताधर्मकथांग** १७ पृ० ५४५.

७. **उत्तराध्ययनटीका** अ० ३.

८. **औपपातिक सूत्र** ३१, पृ० १३२, **उत्तराध्ययन टीका** ४०८, तथा **अर्थशास्त्र** २/३० पृ० २१७.

आँखें (दृष्टि) लगी रहती थी।[1] घोड़ों को अश्वशाला[2] में रखा जाता था तथा उनको खाने के लिए यवस और तुष दिया जाता था।[3] भरत चक्रवर्ती के अश्वरत्न का नाम कमलामेला था।[4] सनत्कुमार चक्रवर्ती अपने जलधिकिल्लोल नामक घोड़े पर भ्रमण करता था। वह घोड़ा बहुत ही तीव्र गति से भागता तथा क्षण भर में ही अदृश्य हो जाता था।[5]

(III) हस्ति सेना :—

चतुरंगिणी सेना के अन्तर्गत हस्ति सेना का विशिष्ट महत्त्व होता था। तत्कालीन युद्धों जैसे राम-रावण युद्ध, शत्रुघ्न-लवणासुर युद्ध आदि में गज-सेना का उपयोग किया गया था। नागरिकों और सामरिक दोनों प्रकार की आवश्यकताओं के लिए तथा राजकीय वैभव और समृद्धि के प्रदर्शन में हाथियों का अनिवार्य रूप से प्रयोग होता था। अपने उदार सौम्य और भव्य स्वरूप के लिए हाथी मूल्यवान होते थे। अच्छी नस्ल के हाथी सावधानीपूर्वक पाले जाते थे। हाथियों के संरक्षण और संवर्धन के लिए राजाओं के पास विशाल वन होते थे, जो कि "नागवन" नाम से प्रसिद्ध थे।[6] हाथियों की अनेक जातियाँ होती थीं। गंधहस्ति को सर्वोत्तम माना गया है।[7] ऐरावत इन्द्र के हाथी का नाम था। उत्तम हाथी के सम्बन्ध में जैन आगम, पुराणों में कहा गया है कि वह सात हाथ ऊँचा, नौ हाथ चौड़ा, मध्य भाग में दस हाथ, पाद पुच्छ आदि सात अङ्गों से सुप्रतिष्ठित, सौम्य, प्रमाणयुक्त, सिर उसका उठा हुआ, सुख-आसन से

१. निशीथभाष्य २०, ६३९६.
२. व्यवहारभाष्य १०, ४८४, कौटिल्य अर्थशास्त्र २/३०, पृ० २१४.
३. उत्तराध्ययन टीका अ० ४
४. आ० चूर्णी पृ० १९६.
५. उत्तराध्ययन टीका अ० १८.
६. डा० लल्लनजी सिंह : रामायणकालीन युद्धकला, आगरा : अभिनव प्रकाशन १९८२-८३, पृ० १३४.
७. आ० चूर्णी २, पृ० १७०, श्रेणिक के सेचनक हस्ति और कृष्ण के विजय हस्ति को गंधहस्ति कहा गया है। यह हस्ति अपने यूथ का अधिपति होता था, और अपनी गंध से अन्य हस्तियों को आकृष्ट करता था।

युक्त, पृष्ठ भाग शूकर के समान, उन्नत और मांसल कुक्षि, प्रलम्बमान उदर, लम्बी सूँढ़, लम्बे ओंठ, धनुष के पृष्ठ भाग के समान आकृति, सुश्लिष्ट प्रमाणयुक्त, दृढ़ शरीर, सटी हुई प्रमाणयुक्त पुच्छ, पूर्ण और सुन्दर कछुए के समान चरण, शुक्ल वर्ण, निर्मल और स्निग्ध त्वचा तथा स्फोट आदि दोषरहित नखों वाला होता है।[1] भद्र, मन्द, मृग और संकीर्ण, थे हाथी के चार भेद होते थे। इनमें भद्र हाथी सर्वोत्तम माना जाता था। वह मधु-गुटिका की भाँति पिंगल नेत्र वाला, सुन्दर और दीर्घ पूँछ वाला, अग्रभाग में उन्नत तथा सर्वांगपरिपूर्ण होता था, सरोवर में वह क्रीड़ा करता और दांतों से प्रहार करता था। मंद हाथी शिथिल, स्थूल, विषम त्वचा से युक्त, स्थूल शिर, पूँछ, नख और दन्त वाला तथा हरित, और पिंगल नेत्र वाला होता था। धैर्य और वेग में मंद होने के कारण उसे मंद हस्ति कहते थे। बसन्त ऋतु में ऐसा हाथी जलक्रीड़ा करता तथा सूँड से प्रहार करता था। मृग हाथी कृश होता था। उसकी ग्रीवा, त्वचा, दांत, और नख कृश होते थे तथा वह भीरु और उद्विग्न होता था। हेमन्त ऋतु में यह जलक्रीड़ा करता था तथा अधरों से प्रहार करता था। संकीर्ण हाथी सभी में निकृष्ट माना जाता था। वह रुप और स्वभाव से निकृष्ट होता था। यह हाथी अपने समस्त अंगों से प्रहार करता था।[2] शशि, शंख और कुन्दपुष्प के समान धवल हाथी का उल्लेख भी जैन साहित्य में किया गया है। मंडस्थल से इस प्रकार के हाथी के मद प्रवाहित होता रहता था और बड़े-बड़े वृक्षों को यह उखाड़कर फेंक देता था।[3]

हाथियों की आयु लगभग साठ वर्ष की बतायी गई है। राजा अपने हाथियों के नाम भी रखते थे। राजा श्रेणिक के हाथी का नाम सेचनक था। सेचनक हाथी ऋषियों के आश्रम में पला हुआ था। तथा ऋषिकुमारों के साथ अपनी सूंड में पानी भरकर, पुष्पाराम का सिंचन किया करता था। बड़े होने पर इसने यूथाधिपति को मार दिया था और आश्रम को नष्ट कर दिया था। यह देख कर आश्रम के तपस्वियों ने इसे राजा श्रेणिक को सौंप दिया था।[4] विजयगंधहस्ति कृष्ण का प्रसिद्ध हाथी था।

---

१. ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र अ० १.

२. ज्ञातृधर्मकथांग सूत्र अर्थशास्त्र २. ३१ पृ० २२१ रामायण १/६/२५.

३. उत्तराध्ययन टीका ४

४. आवश्यक चूर्णी २, पृ० १७० आदि

इस पर बैठकर वे भगवान नेमिनाथ के दर्शन के लिए जाते थे।[१]

हाथियों को सन्नद्ध-बद्ध करके, उज्जवल वस्त्र, कवच, गले में आभूषण और कर्णपूर पहना, उर में रज्जू बाँध, उन पर लटकती हुई जूले डाल, छत्र, ध्वजा और घंटे लटका, अस्त्र-शस्त्र तथा ढालों से शोभित किया जाता था।

जैन मान्यतानुसार जंगली हाथियों को पकड़ कर भी शिक्षा दी जाती थी। विन्ध्याचल के जंगलों में हाथियों के झुण्ड के झुण्ड घूमते थे, उन्हें नल के वनों में पकड़ा जाता था।[२] हाथियों की शिक्षा के लिये यह कहा गया है कि पहले उन्हें सूंढ़ से काष्ट, फिर छोटे पत्थर, फिर गोलों, फिर बेर और फिर सरसों उठाने का अभ्यास कराया जाता था। हाथियों को शिक्षा देने वाले दमग उन्हें अपने वश में रखते तथा उन्हें मेंड, हरे गन्ने, यवस आदि खिलाकर उन्हें अपनी सवारी के काम में लेते थे। कौशाम्बी का राजा उदयन अपने मधुर संगीत से हाथियों को वश में करने की कला में निष्णात समझा जाता था।[३] मूलदेव ने भी वीणा बजाकर हथिनी को वश में किया था।[४] कभी-कभी हाथी सांकल तुड़ाकर भाग जाते और नगरी में उपद्रव उत्पन्न कर देते थे। ऐसे समय में कोई राजकुमार या साहसी पुरुष हाथी की सूंढ़ के आगे गोलाकार लिपटा हुआ उत्तरीय वस्त्र फेंककर उसके क्रोध को शांत करते थे। महावत अंकुश की सहायता से हाथियों को वश में रखते थे। और झूल, वैजयन्ती (ध्वजा), माला और विविध अलंकारों से उन्हें विभूषित करते थे। हाथियों की पीठ पर अम्बाड़ी रखी जाती थी जिस पर कि बैठा हुआ मनुष्य दिखाई नहीं देता था। हाथियों को स्तम्भों में बाँधा जाता और उनके पाँवों में मोटे-मोटे रस्से बाँधे जाते थे।

हस्ति सेना से शत्रुसेना को रौंदने का काम लिया जाता था। कौटिल्य ने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिये हस्तिसेना के प्रधान

---

१. ज्ञातृधर्मकथांग ५,

२. अर्थशास्त्र २/३१.

३. आवश्यक चूर्णी २, पृ० १६१.

४. उत्तराध्ययन टीका ३.

योगदान की प्रशंसा की है।[1] किले का द्वार तोड़ने के लिये हाथियों का उपयोग होता था।

(IV) **रथ सेना :—**

तत्कालीन सैन्य व्यवस्था में रथ सेना चतुरंगिणी सेना का प्रमुख अंग थी। राजा तथा अन्य विशिष्ट लोग रथों में बैठते थे। रथ, छत्र, ध्वजा पताका, घण्टे, तोरण, नन्दिघोष और क्षुद्र घण्टिकाओं से सुसज्जित किया जाता था। हिमालय में पैदा होने वाले सुन्दर तिनिस काष्ट द्वारा रथ निर्मित किये जाते तथा इस पर सोने की सुन्दर चित्रकारी की जाती थी। इसके चक्के और धुरे मजबूत होते तथा चक्कों का घेरा मजबूत लोहे का बना होता था। इसमें जातवंत सुंदर घोड़े जोते जाते तथा सारथि रथ को हाँकता था। धनुष, बाण, तूणीर, खड्ग, शिरस्त्राण आदि अस्त्र-शस्त्रों से यह सुसज्जित रहता था।[2] रथ अनेक प्रकार के होते थे। संग्राम रथ कटीप्रमाण फलकमय वेदिका से सज्जित होता, जबकि यानरथ पर यह वेदिका नहीं होती। कर्णीरथ एक विशिष्ट प्रकार का रथ होता जिस पर बैठने का सौभाग्य श्रेष्ठी या वेश्या आदि को ही प्राप्त होता था। राजाओं के रथ सबसे बढ़कर होते थे, उनकी गणना रत्नों में की जाती थी। उज्जयिनी के राजा प्रद्योत के अग्निभीरु रथ पर अग्नि का कोई असर नहीं होता था। कौटिल्य ने देवरथ, पुष्परथ, संग्रमिक रथ, परियाणिक रथ, परपुराभियानिक रथ एवं वैनयिक रथ आदि का वर्णन किया है।[3] रथ सेना के प्रधान अधिकारी को रथाधिपति कहा जाता था।

(ख) १. **युद्ध** :

कारण

प्राचीन समय में जैन मान्यतानुसार सामन्त लोग अपने साम्राज्य को विस्तृत करने के लिए युद्ध किया करते थे। क्षत्रिय राजा अवसर आने पर अपने शौर्य का प्रदर्शन करने में नहीं चूकते थे। अधिकाँश युद्ध इस

---

१. **अर्थशास्त्र** २-२. पृ० ७६.

१. आ० चूर्णी पृ० १८८, **बृहत्कल्प भाष्य पीठिका** २१६, तथा **रामायण** ३.२३.१३ आदि **महाभारत** ५.९४ १८ आदि।

३. **अर्थशास्त्र** २.३५ पृ० २२८.

समय स्त्रियों के कारण होते थे। संकट अवस्था को प्राप्त स्त्रियों की रक्षा के लिये, स्त्रियों के सौन्दर्य से आकृष्ट हो उन्हें प्राप्त करने के लिए अथवा स्वयंवरों के अवसरों पर प्रायः युद्ध हुआ करते थे। प्राचीन जैन ग्रंथों में सीता[1], द्रौपदी[2], रुक्मिणी[3], पद्मावती, तारा[4], कांचना[5], रक्त सुभद्रा[6], अहिन्निका[7], सुवर्णगुलिका[8], किन्नरी[9], सुरूपा[10], विद्युन्मती[11] और रोहिणी

---

१. सीता की कथा विमलसूरि के पउमचरिय में मिलती है। रावण जब सीता को हरण करके ले गया, उसे प्राप्त करने के लिए राम ने रावण के साथ युद्ध किया था।

२. द्रोपदी की कथा ज्ञातृधर्मकथा (१६) में आती है। कौरव और पाण्डवों का युद्ध महाभारत में प्रसिद्ध है।

३. रुक्मिणी और पद्मावती का कृष्ण ने अपहरण किया था। इसका उल्लेख हेमचन्द्र के त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित (८.६) में मिलता है।

४. अभयदेवसूरि के अनुसार तारा सम्बन्धी युद्ध का वर्णन त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित (७.६) में मिलता है। तथा देखिये वाल्मीकि रामायण ४.१६।

५. कांचना, अहिन्निका, किन्नरी सुरुपा और विद्युन्मती की कथाएँ अज्ञात हैं। कुछ लोग राजाश्रेणिक की अग्र महिषी चेल्लणा को ही कांचना कहते हैं। प्रोफेसर वेबर ने इन्द्र की उपपत्नी अहल्या को अहिन्निका बताया है।

६. सुभद्रा का अर्जुन ने अपहरण किया था। इसकी कथा त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित में मिलती है।

७. सुवर्णगुलिका का असली नाम देवदत्ता था। वह सिंधुसौवीर के राजा उद्रायण की रानी प्रभावती की दासी थी। गुटिका के प्रभाव से वह सुवर्ण रंग की बन गयी थी। उज्जैन का राजा प्रद्योत हाथी पर चढ़कर उसे अपनी राजधानी ले गया। इस पर उदयन और चन्ड प्रद्योत में युद्ध हुआ था।

८. रोहिणी युद्ध की कथा त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित में (८.४) तथा वसुदेवहिण्डी में मिलती है।

९. काशी, कोसल, अङ्ग, कुणाल, कुरु और पाञ्चाल के राजाओं ने मिथिला की राजकुमारी मल्ली के रुप-गुण की प्रशंसा सुनकर मिथिला पर आक्रमण किया। मिथिला के राजा कुम्भ का इन छहों राजाओं के साथ युद्ध हुआ था, ज्ञातृधर्मकथा अ० ८.

१०. मृगावती कौशाम्बी के राजा शतानीक की महारानी थी। चित्रकार उसका चित्र बनाकर उज्जयिनी के राजा प्रद्योत के पास ले गया। चित्र देखकर वह मृगावती पर मोहित हो गया। उसने शतानीक के पास दूत भेजा कि या तो मृगावती को भेज दे, नहीं तो युद्ध के लिये तैयार हो जाये। आ० चूर्णी पृ० ८६ आदि।

११. निशीथचूर्णी १०, २८६०

नामक महिलाओं के उदाहरण मिलते हैं, जिनके कारण संहारकारी युद्ध लड़े गये थे। मिथिला की राजकुमारी मल्ली और कौशाम्बी की महारानी मृगावती भी युद्ध का कारण बनी। कालिकाचार्य की साध्वी भगिनी सरस्वती को उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल द्वारा अपहरण करके अपने अन्तःपुर में रख लिये जाने के कारण कालिकाचार्य ने ईरान के शाहों के साथ मिलकर, गर्दभिल्ल के विरुद्ध युद्ध किया था।

एक राजा दूसरे राजा पर आक्रमण करने के लिए हमेशा तैयार रहता था। यदि किसी राजा के पास कोई बहुमूल्य वस्तु होती तो उसे प्राप्त करने के लिये अपनी सारी शक्ति लगा देता था। उज्जयिनी के राजा प्रद्योत और काँपिल्यपुर के राजा दुर्मुख के बीच एक बहुमूल्य दीप्तिवान मुकुट को लेकर युद्ध हुआ था। कहते हैं कि इस मुकुट में ऐसी शक्ति थी कि इसे पहनकर दुर्मुख दो मुँह वाला दिखाई देता था। राजा प्रद्योत ने इस मुकुट की माँग की। इस पर दुर्मुख ने कहा कि यदि प्रद्योत अपना नलगिरि हाथी अग्निभीरु रथ, शिवा महारानी और लोहजंग पत्रवाहक[1] देने को तैयार हो तो उसे मुकुट मिल सकता है। इस बात को लेकर दोनों में घमासान युद्ध हुआ जिसमें प्रद्योत की विजय हुई और दुर्मुख को बन्दी बना लिया गया।[2]

चम्पा के राजा कूणिक और वैशाली के राजा चेटक के साथ सेचनक गंधहस्ति और अठारह लड़ी के कीमती हार को लेकर युद्ध हुआ था। इस युद्ध में विध्वंसक अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग भी हुआ था। धवल हस्ति को लेकर नमिराजा और चन्द्रयश राजा में युद्ध छिड़ा था। नमिराजा का हस्ति धवल खम्भा तुड़ाकर भाग गया था, चन्द्रयश ने उसे पकड़ लिया और नमिराजा के माँगने पर भी वापिस नहीं लौटाया। जवाब में चन्द्रयश ने यही कहा कि किसी के रत्नों पर नाम नहीं लिखा रहता, जो उसे बाहुबल से प्राप्त कर ले, वे उसी के हो जाते हैं।[3]

---

१. बृहत्कल्पभाष्य ६. ६३२८.

२. उत्तराध्ययन टीका ९.

३. वही

प्रायः सीमाप्रान्त को लेकर भी राजाओं में युद्ध हुआ करते थे। कभी-कभी विदेशी राजाओं का भी देश पर आक्रमण हो जाया करता था। चक्रवर्ती राजा अपने दल-बल सहित दिग्विजय के लिए प्रस्थान करते थे और समस्त देशों पर अपना अधिकार स्थापित कर लेते थे। ऋषभदेव के पुत्र प्रथम भरत चक्रवर्ती की कथा जैनसूत्रों में आती है। -

गंगा महानदी के तट पर विनीता नाम की नगरी थी। जो कि अल्कापुरी के समान शोभायमान थी। ऐसी विनीता राजधानी में हिमालय के समान भरत चक्रवर्ती राजा राज्य करता था। उसके शरीर में चक्र, शंख, रत्न, आदि ३६ शुभ चिन्ह थे। राज्य करते समय भरत राजा की आयुधशाला में एक दिन दिव्य चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। आयुधशाला के रक्षक ने भरत महाराजा के पास आकर उन्हें जय विजय घोष से बधाई देकर इस प्रकार कहा कि हे देवानुप्रिय। आपकी आयुधशाला में दिव्य चक्ररत्न उत्पन्न हुआ है। भरत महाराज तुरंत ही सिंहासन से उठे अपने कौटुम्बिक पुरुषों सहित और अपनी समस्त ऋद्धि, समस्त द्यु ति, समस्त सेना, समस्त समुदाय वाजित्रों की ध्वनि के साथ चलते हुये जहाँ आयुध-शाला थी वहाँ आये और चक्ररत्न को मोर पिन्छ से पोंछा, दिव्य जल से प्रक्षालन किया, गोशीर्ष चंदन से लेप किया, नूतन गंध मालाओं से पूजा की, श्वेत रत्नमय अक्षतों से अष्टमंगल द्रव्यों का आलेखन किया। पश्चात् आठ-सात पग पीछे हट कर प्रणाम् कर बाहर निकला। इन सब कार्यक्रमों से निबट कर भरत महाराजा ने अपनी आयुधशाला के चक्ररत्न की सहायता से जम्वूद्वीप के मगध, वरदाम और प्रभास नाम के पवित्र तीर्थों पर और सिंधुदेवी पर विजय प्राप्त की। चर्म-रत्न की सहायता से उन्होंने सिंहल, बब्बार, अंग, किरात, यवनद्वीप, आरबक, रोमक, अलसंड (एलेक्जैण्ड्रिया) तथा, पिक्खुर, कालयुद्ध और जोणक नामक म्लेच्छों' वैताढ्य पर्वत के दक्षिणवासी म्लेच्छों, तथा दक्षिण-पश्चिम प्रदेश से लगातार सिंध सागर तक के प्रदेशों और रमणीय कच्छ को अपने अधिकार में कर लिया। इसके बाद तिमिसगुहा में प्रवेश किया और इसका दक्षिण द्वार खोलने के लिए अपने सेनापति सुषेण को आदेश दिया। सुसेन सेना-पति भरत महाराज की आज्ञानुसार तिमिसगुहा के द्वार खोल देता है। यहाँ पर भरत राजा उम्मग्गजला और निम्मग्गजला नाम की नदियों को पार कर, अवाड़ नाम के वीर और लड़ाकू किरातों पर विजय प्राप्त

करता है। जो कि अर्धभरत के उत्तरी खण्ड में निवास करते थे। तत्पश्चात् क्षुद्र हिमवंत को जीतकर वे ऋषभकूट पर्वत की ओर बढ़े और यहां शिलापट्ट पर कांकणी रत्न से उन्होंने अपने प्रथम चक्रवर्ती की लिखित घोषणा की। वैताढ्य के उत्तरखण्ड में निवास करने वाले नमि और विनमि नाम के विद्याधर राजाओं ने समुद्रा नामक स्त्री रत्न भेंट कर उन्हें सम्मानित किया। उसके पश्चात् गंगा नदी पार करते हुए वे गंगा के पश्चिमी किनारे पर स्थित खण्डप्रपात गुफा में आये, और अपने सेनापति को खण्डप्रपात गुफा का उत्तरी द्वार खोलने का आदेश दिया। यहाँ पर उन्हें नव-निधियों की प्राप्ति हुई। अंत में चतुर्दश रत्नों से विभूषित हो चतुर्दिश पृथ्वी को जीतकर भरत चक्रवर्ती अपनी राजधानी विनीता (अयोध्या) लौट गये, जहाँ बड़ी धूम-धाम से उनका राज्याभिषेक किया गया था।[1] जैन पुराणों में उल्लिखित है कि भरत चक्रवर्ती ने जिस-जिस प्रदेश को जीता, जीतने से पूर्व सभी स्थानों पर तीन दिवस तक पौषधशाला में रहकर पौषधव्रत ग्रहण कर अट्ठम किया था, पश्चात् देशों पर आक्रमण किया था।

भरत चक्रवर्ती के पश्चात् इनके समान ही ग्यारह (११) चक्रवर्ती और हुये हैं। उन्होंने भी दिग्विजय करके सम्पूर्ण पृथ्वी पर अपना राज्य स्थापित किया था, जिनके कि नाम निम्न हैं :—

१. सगर, २. मघवा, ३. सनत्कुमार, ४. शान्तिनाथ, ५. कुंथुनाथ ६. अरहनाथ, ७. सुभूम, ८. महापद्म, ९. हरिषेण, १०. जय, ११. ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती।

शान्तिनाथ, कुंथुनाथ, अरहनाथ चक्रवर्ती भी थे और तीर्थंकर भी थे।

(II) युद्धनीति :—

प्राचीन समय में लोग युद्धों से बहुत भयभीत रहते थे। जैन मान्यतानुसार पहले यथासम्भव साम, दाम, दण्ड और भेद की नीति

---

१. **जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति**, वक्ष ३, पृ० १८४-२७७, आ० चू० पृ० १८२-२२८. उत्तराध्ययन टीका आ० १८. **वसुदेव हिंडी** पृ० १८६ आदि तथा देखिए महाभारत १. १०/१०१.

अपनायी जाती थी। यदि इनके द्वारा सफलता प्राप्त नहीं होती तब युद्ध लड़े जाते थे। लेकिन युद्ध से पूर्व समझौते के लिए दूत भेजे जाते थे। जैसा कि भरत, बाहुबलि युद्ध होने से पूर्व भरत की तरफ से बाहुबलि के पास दूत भेजा गया था। यदि विपक्षी राजा दूत की परवाह नहीं करता तब राजदूत राजा के पादपीठ का अपने बायें पैर से अतिक्रमण कर भाले की नोंक पर पत्र रखकर उसे समर्पित करता था। तत्पश्चात् युद्ध आरम्भ होता था।

लोग युद्ध के कला-कौशल से भली-भाँति परिचित होते थे। चतुरंगिणी सेना तथा आवरण और प्रहरण के साथ-साथ कौशल, नीति, व्यवस्था और शरीर की सामर्थ्य को भी युद्ध के लिए आवश्यक समझा जाता था।[1] स्कन्धावार निवेश[2] युद्ध का एक आवश्यक अंग था। युद्ध करने से पूर्व नगरी को ईंटों से दृढ़ बना दिया जाता था तथा कोठारों को अनाज से भरकर युद्ध की तैयारियाँ की जातीं।[3]

प्राचीन समय में युद्ध अनेक प्रकार से लड़े जाते थे। जैन सूत्रों में युद्ध, नियुद्ध, महायुद्ध, महासंग्राम आदि अनेक प्रकार के युद्ध बताये गये हैं। राजा भरत और बाहुबलि के बीच दृष्टियुद्ध, वाक्युद्ध, बाहुयुद्ध, दण्डयुद्ध और मुष्ठि युद्ध होने का उल्लेख मिलता हैं।[4] यहाँ हम भरत-बाहुबलि युद्ध का वर्णन करेंगे।

साठ हज़ार वर्ष की पुनीत जयशील विजय-यात्रा कर जब भरत महाराजा विनीता नगरी पधारे तब वहाँ उनका महाराजाधिराज के रूप में अभिषेक हुआ। अभिषेक होने के पश्चात् भरत महाराजा ने अपने अट्ठानवे भाइयों के पास संदेश भेजा कि "साठ हजार वर्षों में मैंने विद्याधरों सहित भारतवर्ष पर विजय प्राप्त की है। तुम भी अब मेरे प्रदेश में रहो, मेरी सेवा करो। नहीं तो मेरे प्रदेशों से बाहर निकल जाओ। यह

---

१. आ० चूर्णी० पृ० ४५२.
२. ज्ञाताधर्म कथांगसूत्र अ० ८, अ० १६, अर्थशास्त्र १०/१ पृ० ६००.
३. आ० चूर्णी० पृ० ८६.
४. वही पृ० २०६.

सुनकर अट्ठानबे भाइयों ने कहा कि यह प्रदेश तो पिताजी ने हमें दिये हैं इसलिए हमको आज्ञा करना आपको योग्य नहीं है। जब भरत अपनी सेवा के लिए बार-बार उनको कहने लगा, तब सब भाई मिलकर ऋषभदेव स्वामी के पास पहुंचे और प्रणाम कर कहने लगे --"हे तात ! आपने हमारे ऊपर कृपाकर हमें राज्य दिये हैं परन्तु भरत हमको बार-बार हैरान करता है, इसलिए हमको क्या करना चाहिए ? कहो।" प्रभु ने यह सुन उन्हें (अट्ठानवे भाइयों को) वैराग्यजनक वचनों से बोध दिया। जिसको श्रवण कर वे चरम शरीरी तद्भव मोक्षगामी अट्ठानवे भाई दीक्षित हो गये। यह समाचार सुन भरत चक्रवर्ती ने उनके पुत्रों को राज्य सौंप दिया।[1]

भरत-बाहुबलि युद्ध :—

अपने अट्ठानवे भाइयों के समान ही भरत महाराजा ने तक्षशिला-धिपति बाहुबलि के पास दूत भेजा कि 'मेरी सेवा करो।'[2] पउमचरिय में इसका उल्लेख इस प्रकार मिलता है कि जब साठ हजार वर्ष की पुनीत जयशील विजय यात्रा कर भरत ने अयोध्या में प्रवेश किया, उस समय उनका पैनी धार का युद्ध प्रिय चक्र अयोध्या की सीमा पर ही रह गया। किसी भी तरह वह नगर के भीतर प्रवेश नहीं कर सका। चक्र को इस तरह निरुद्ध और विघ्नकारक देख कर सम्राट भरत ने क्रुद्ध होकर जय और यश से युक्त मंत्रियों तथा सामंतों से पूछा कि मुझे क्या सिद्ध करना (जीतना) शेष रहा है। यह सुन मंत्रीगण बोले महाराज आपने सोचा वह सब तो आप सिद्ध कर चुके हो। केवल एक व्यक्ति सिद्ध करने के लिए शेष रहा है और वह है आपका छोटा भाई बाहुबलि, जो कि सवा पाँच सौ धनुष लम्बा, चरम शरीरी, स्वाभिमान और लक्ष्मी का निकेतन, विशाल बलशाली पोवनपुर का राजा है।[3] यह सुनकर भरत ने तुरन्त ही मंत्री को यह संदेश देकर भेजा कि वह मेरी आज्ञा माने। और यदि किसी तरह वह इस बात पर राजी न हो तो ऐसी युक्ति करना जिससे दोनों का युद्ध

१. आ० चूर्णी० पृ० २ ६.

२. वही

३. पउम चरिय पृ० ६१.

हो ।[1] यहासुन कर भरत का सिखाया हुआ मंत्री वहाँ के लिए रवाना हुआ और आधे पल में ही पोदनपुर पहुंच गया। तब आदरपूर्वक बाहुबलि ने पूछा कहो कैसे आना हुआ ? भरत ने मेरे लिए क्या समाचार कहे हैं ? इस पर मंत्री ने कहा कि क्या आप और क्या भरत, दोनों में कोई अन्तर नहीं है तो भी आप चलकर पृथ्वीश्वर भरत से भेंट कर लीजिए। जिस प्रकार उनके अट्ठानवे भाई उनकी आज्ञा मानकर रहते हैं वैसे ही आप भी अहंकार छोड़कर उनकी आज्ञा मानकर रहिए। यह सुनकर बाहुबलि ने दूत पर बिगड़ते हुए बोले कि यह विशाल धरती, केवल हमारे पिता जी की है और किसी की नहीं है। पिताजी ने ही मुझे यह भूमि-भाग दिया है। भरत तो सम्पूर्ण पृथ्वी का स्वामी है—मैं तो केवल पोदनपुर का ही अधिपति हूं। मैं न उससे कुछ लेता हूं और न कुछ देता हूं। और न उसके पास जाता हूं। उससे भेंट करने से मेरा कौन सा काम बनेगा। यह सुन कर मंत्रियों ने क्रोध से भड़क कर कहा कि यदि तुम यह सोचते हो कि पिताजी ने बहुत सोच-विचार कर यह पृथ्वी मण्डल तुम्हें दिया है तो याद रक्खो कि गाँव, सीमा, खलिहान और खेत—एक सरसों भर भी बिना कर दिये तुम्हारा नहीं हो सकता है।[2] यह सुन कर बाहुबलि क्रोध से लाल हो उठा और कहने लगा 'ओ' किसका राज्य ? किसका यह भरतद्वीप ? जो समझो, वह तुम सब मिलकर मेरा कर लो। एक चक्र से ही वह यह गर्व कर रहा है कि मैंने समस्त धरा-पीठ को वश में कर लिया। वह नहीं जानता किसके पास एकक्षत्र राज्य रहा है। मैं कल ही परावर्तित भाला, कराल, कर्णिका, मुग्दर, भुसुण्डि और विशाल पट्टिश आदि शस्त्रों से ऐसा प्रतिकार करूंगा कि उसका सब मान गलित हो जायेगा।" यह सुनकर मंत्रीगण फौरन वहाँ से चल पड़े और पल भर में ही भरत के पास आ गये और कहा कि हे स्वामी ! वह तो आपको तिनके के समान भी नहीं समझता। महाअभिमानी वह अपने घमण्ड में इतना चूर है कि शत्रुक्षयकारी वह आपकी सेवा नहीं करना चाहता, धरती-रमण और युद्ध-संनद्ध वह रणपट मांडकर दाँव चुकाना चाहता है।

यह सुन कर राजा भरत भड़क उठे और फौरन ही रणभेरी बजवा

---

१. पउम चरिय पृ० ६१.

२. वही पृ० ६३.

दी। और स्वयं भी युद्ध के लिए तैयार होने लगे। चतुरंगिणी सेना इकट्ठी होने लगी। अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ आ पहुंची। ध्यान करते ही नौ निधियाँ तथा चौदह रत्न इकट्ठे हो गये।

जैसे ही भरत राजा ने अभियान के लिए प्रस्थान किया, वैसे ही बाहुबलि के दूतों ने उसे खबर दी कि महाराज! तैयार होकर शीघ्र निकलिये। प्रतिपक्ष समुद्र की भाँति दीख पड़ रहा है। यह सुन कर पोदनपुर नरेश बाहुबलि भी रोषपूर्वक तैयारी करने लगे। पटु और पट्ट बज उठे, शंख भी फूंक दिये गये। असंख्य ध्वज-दण्ड और छत्र उठने लगे। कल-कल की ध्वनि होने लगी। हाथों के प्रहार से वाहन चलने लगे। बाहुबलि भी निकल पड़ा। उसकी एक ही सेना ने भरत की सात अक्षौहिणी सेना को क्षुब्ध कर दिया। भरत और बाहुबलि की सेनाएँ एक-दूसरे के सम्मुख आ पहुंचीं। आमने-सामने ध्वज के आगे ध्वज और अश्व के आगे अश्व। महाराजाओं के आगे महाराजा, योद्धाओं के आगे योद्धा, महारथों के आगे महारथ खड़े कर दिये गये।

भरत और बाहुबलि की सेनाओं के भिड़ते ही कलकल शब्द बढ़ने लगा। रथ हांके जाने लगे, हाथी उकसाये जाने लगे। एक-दूसरे पर लगातार हमले होने लगे। पैर छिन्न-भिन्न होने लगे। एक-दूसरे पर लगातार हमले होने लगे। रथ की धुरें टूटने लगीं। मंडस्थल विदीर्ण होने लगे। और छाती फटने लगीं। भुजाएँ कट कर गिरने लगीं, सिर लोटने लगे, छिन्न-भिन्न रुण्ड-मुण्ड नाच रहे थे। हाथियों के दांतों के प्रहार से छिन्न होकर योद्धा हट रहे थे। प्रतिहत होकर गजसेना पृथ्वी पर पड़ने लगी। ध्वज पट खंडित होकर उड़ रहे थे। बड़े-बड़े रथ चकनाचूर हो गये। बड़े-बड़े अश्व नष्ट होकर लोटपोट हो गये। रक्तरंजित तीरों से दोनों ही सेनाएं भयङ्कर हो उठीं।

इस तरह नष्ट प्रायः दोनों सेनाओं को भिड़ते और धरती पर गिरते देखकर मंत्रियों ने निवेदन किया। "अभागे सैनिकों के संहार से क्या फायदा? अच्छा हो यदि आप दोनों ही आपस में युद्ध कर लें।"[1] त्रिषष्टि-शलाका पुरुष चरित में इस प्रकार का उल्लेख है कि भरत और बाहुबलि

---

१. पउम चरिय पृ० ६७ महा पु० भाग-२, पृ० २०३.

को मंत्रियों ने नहीं बल्कि देवताओं ने आकर उत्तम प्रकार के युद्ध करने के लिए कहा था।[1] इस प्रकार देवताओं की बात स्वीकार कर दोनों भाई अहिंसात्मक युद्ध करने को तत्पर हुए।

आवश्यक निर्युक्ति में दृष्टि युद्ध, बाहु सुद्ध, मुष्टि युद्ध और दण्ड युद्ध का उल्लेख है।[2] आवश्यक चूर्णी में दृष्टि, बाहु और मुष्टि युद्ध का उल्लेख है।[3] पउम चरिय में दृष्टि-युद्ध, जल युद्ध और मल्ल युद्ध का वर्णन है।[4] महापुराण में दृष्टि युद्ध, वाहु युद्ध और जल युद्ध का वर्णन है।[5] चउप्पन्न महापुरुष चरिय में दृष्टि युद्ध, बाहु युद्ध और वाक् युद्ध का उल्लेख मिलता है।[6] त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित में दृष्टि, वाणी, बाहु और दण्डाविक युद्ध का उल्लेख है।[7]

सर्व प्रथम दोनों के मध्य दृष्टि युद्ध प्रारम्भ हुआ। इस समय दोनों वीर लाल नेत्रों से आमने-सामने खड़े हुए एक-दूसरे का मुंह देखते रहे। अंत में सूरज की किरणों से आक्रांत नील कमल की तरह, ऋषभस्वामी के बड़े पुत्र भरत की आँखें बंद हो गई। देवताओं ने उस समय बाहुबलि पर फूल बरसाये। इस प्रकार दृष्टि युद्ध में बाहुबलि की विजय हुई।

इस युद्ध के पश्चात् वाणी युद्ध का प्रारम्भ हुआ। सर्व प्रथम भरत ने सिंहनाद किया, वह सिंहनाद चारों तरफ आकाश में व्याप्त हो गया। इसके पश्चात् बाहुबलि ने सिंहनाद किया। बाहुबलि के सिंहनाद को सुनकर भरत ने फिर से सिंहनाद किया। जिसे सुनकर देवताओं की स्त्रियां हरिणी की तरह भयभीत हो गई। इस प्रकार भरत और बाहुबलि ने क्रमशः सिंहनाद किया। भरत के सिंहनाद की आवाज कम होती गई। इस प्रकार वाक युद्ध में भी बाहुबलि की विजय हुई।

---

१. त्रि० श० पु० च० पृ० ४०६-४०७
२. आ० नि० पृ० ७४
३. आ० चू० पृ० २१०
४. पउम चरिय पृ० ६७-७१
५. महा पुराण पृ० २०४-२०५
६. चउप्पन्न महापुरुषचरिय पृ० ४४-४८
७. त्रि० श० पु० च० पृ० ४७१-४७४

इसके बाद दोनों में जलयुद्ध प्रारम्भ हुआ। पोदनपुर नरेश वाहुवलि ने सर्वप्रथम जल में इस प्रकार प्रवेश किया जिस प्रकार ऐरावत हाथी पानी में घुसा हो। तब ईर्ष्या से भरत ने पानी की बौछार छोड़ी, शीघ्र ही यह जलधारा बाहुबलि की छाती पर पहुंचकर वापिस आ गई। इसके बाद बाहुबलि ने भी जल की धारा भरत पर छोड़ी। इतनी बड़ी धारा में पड़कर भरतेश्वर पीछे हटकर रह गये। इस जलयुद्ध में भी भरत जीत न सके।

इन युद्धों के पश्चात् भरत बाहुबलि के बीच मल्लयुद्ध प्रारम्भ हुआ। दोनों मल्ल की भांति अखाड़े में आये। अपनी बाहु ठोककर वह इस प्रकार लड़े जिस प्रकार कि सुवंत तिङ्, त शव्द ही भिड़ गये हों। बहुबंध, कुक्कुट, कर्तरी, विज्ञानकरण और भामरी (मल्लयुद्ध की क्रियाएं) के द्वारा उन्होंने भरत के साथ मनमाना व्यायाम किया, फिर बाद में अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया। बाहुबलि ने अपने दोनों हाथों से भरत को वैसे ही उठा लिया जैसे जन्म के समय इन्द्र बाल जिन को उठा लेता है। इसी बीच बाहुबलि पर देवों ने पुष्पवृष्टि की। विजय हुई देख बाहुबलि की सेना कोलाहल करने लगी। राजा भरत बहुत दुखी हुआ। उसने चिन्तन कर अपना चक्र बाहुबलि पर छोड़ा लेकिन चरम शरीरी और परिवार के सदस्य होने के कारण उन पर कोई असर नहीं कर सका। चक्र परिभ्रमण करके वापिस लौट गया। (चरम शरीरी और परिवार के सदस्य पर चक्ररत्न का प्रभाव नहीं होता है।)

भरत चक्रवर्ती के इस प्रकार चक्र चलाने पर, बाहुबलि के मन में तरह-तरह के विचार उत्पन्न हुये। उन्होंने सोचा—"क्या मैं भरत को धरती पर गिरा दूं, नहीं ! नहीं ! मुझे धिक्कार है। मैं राज्य छोड़ दूंगा। क्योंकि राज्य के लिए ही मैंने यह सारा अनुचित कार्य किया है। अपने मन में यह सब विचार कर गजशिशु की तरह स्थिर हो गये, और कहा "हे भाई तुम ही पृथ्वी का उपभोग करो। सोमप्रभ भी तुम्हारी सेवा करेगा। (सोमप्रभ, बाहुबलि का पुत्र था) इस प्रकार कहकर उन्होंने जिनगुरु का नाम लेकर पांच मुट्ठियों से अपने केश उखाड़ लिये। कहीं पर बाहुयुद्ध का वर्णन मिलता है लेकिन यह दोनों प्रकार का युद्ध समान ही है।[1]

१. पउमचरिउ पृ० ७३

हेमचन्द्र के त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र में इस प्रकार कहा गया है कि "बाहुबलि ने रुष्ट होकर जब भरत पर प्रहार करने के लिये मुष्टि उठाई तब सहसा दर्शकों के दिल कांप गये और सब एक स्वर में कहने लगे—"क्षमा कीजिये, समर्थ होकर क्षमा करने वाला बड़ा होता है। भूल का प्रतिकार भूल से नहीं होता।" बाहुबलि शान्त मन से सोचने लगे—"ऋषभ की सन्तानों की परम्परा हिंसा की नहीं, अपितु अहिंसा की है। प्रेम ही मेरी कुल परम्परा है, किंतु उठा हुआ हाथ खाली कैसे जाये?" इसलिए उन्होंने विवेक पूर्वक काम लिया, अपने उठे हुए हाथ को सिर पर डाला और बालों कस लुंचन करके श्रमण बन गये।[1]

उपर्युक्त युद्ध के वर्णन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ऋषभदेव के पुत्र बाहुबलि ने युद्ध में भी अहिंसाभाव रखकर यह बता दिया कि हिंसा के स्थान पर अहिंसा भाव से भी किस प्रकार सुधार किया जा सकता है।

कूणिक और चेटक के मध्य युद्ध :—

कूणिक और चेटक का युद्ध बहुत प्रसिद्ध है। यह युद्ध सेचनक हाथी और अठारह लड़ी के हार को लेकर हुआ था। सेचनक हाथी और अठारह लड़ी का हार राजा श्रेणिक के पास था। राजा श्रेणिक ने अपने जीते जी यह दोनों—हाथी और हार कूणिक को न देकर उसके छोटे भाई वेहल्लकुमार को दे दिया था। वेहल्लकुमार अन्तःपुर की रानियों को हाथी पर बैठाकर गंगा में स्नान करने ले जाता, सेचनक रानियों को कभी सूण्ड से उठाता, कभी पीठ, कभी स्कंध, कभी कुम्भ और कभी सिर पर बैठाता, कभी सूण्ड से उछालता, कभी सूण्ड में जल भरकर उन्हें स्नान कराता था। यह देख कूणिक की रानी पद्मावती को बड़ी ईर्ष्या हुई उसने कूणिक से हाथी को प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त की। कूणिक ने एक दिन वेहल्ल को बुलाकर हाथी और हार मांगा। लेकिन वेहल्ल ने कहा कि यदि वह आधा राज्य देने को तैयार हो तो वह दोनों चीजें उसे दे सकता है। वेहल्ल के मन में शंका हो गयी और चम्पा नगरी छोड़कर वह अपने नाना

---

१. त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र पृ० ४२८.

चेटक के पास वैशाली जाकर रहने लगा। कूणिक ने चेटक के पास दूत भेज कर हाथी और हार लौटाने का अनुरोध किया। लेकिन चेटक ने उत्तर में कहलाया कि मेरे लिए तो दोनों ही बराबर हैं, यदि तुम आधा राज्य देने को तैयार हो तो हाथी और हार मिल सकते हैं। कूणिक ने दूसरी बार दूत भेजा लेकिन चेटक ने वही उत्तर दिया। यह सुनकर कूणिक को बहुत क्रोध आया। उसने तीसरी बार दूत भेजा। अबकी बार दूत ने अपने बायें पैर से राजा के सिंहासन का अतिक्रमण कर भाले की नोक पर पत्र रखकर चेटक को समर्पित किया। युद्ध के लिये यह खुला आह्वान था। कूणिक ने काल और सुकाल आदि राजकुमारों को बुलाकर युद्ध की तैयारी करने का आदेश दिया। कूणिक ने अभिषेक्य हस्तिरत्न को सजवाया और बीच-बीच में पड़ाव डालते हुए अपने दल-बल के साथ वैशाली पहुंच गया। उधर चेटक ने अपने आज्ञाकारी काशी के नौ मल्लकी और कोसल के नौ लिच्छवी राजाओं को बुलाकर उनके साथ मन्त्रणा की। सभी लोग इस निर्णय पर पहुंचे कि शरणागत की रक्षा करना क्षत्रिय का धर्म है। (इस वाक्य से यह स्पष्ट होता है कि जैन मान्यतानुसार यदि कोई राजा या राजकुमार दूसरे राजा की शरण में आ जाता था तो शरण में आये की रक्षा करना राजा का परम कर्त्तव्य होता था।) मंत्रणा के पश्चात् युद्ध की घोषणा कर दी गयी। दोनों ओर से घमासान युद्ध हुआ। इस महासंग्राम में कूणिक की ओर से गरुड़व्यूह और चेटक की ओर से शकटव्यूह रचा गया। फिर दोनों में महाशिलाकंटक और रथमुशल नामक युद्ध हुए। कहा जाता है कि इस संग्राम में लाखों सैनिकों का विध्वंस हुआ।[1] चेटक ने काल, सुकाल आदि राजकुमारों को मार गिराया। लेकिन अंत में गजराजा हार गये, और चेटक भाग कर नेपाल चला गया।[2]

राजा श्रेणिक के उदायी और भूतानंद नाम के दो और हाथी थे। युद्ध में पराजित होने के बाद चेटक ने सेचनक को जलते हुए अंगारों के गड्ढे में गिरा कर मार डाला। उसकी जगह कूणिक ने भूतानन्द को

१. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज पृ० १०५

२. आ० चूर्णी २ पृ० १७२-७३.

पदहस्ति के पद पर अभिषिक्त किया।[1] इसके अलावा व्यूह रचना में चक्रव्यूह, दण्डव्यूह और सूचिव्यूह का प्रयोग किया जाता था।[2]

युद्ध आरम्भ करने से पूर्व आक्रमणकारी राजा शत्रु के नगर को चारों ओर से घेर लेते थे। फिर भी यदि शत्रु आत्मसमर्पण के लिए तैयार नहीं होता तो दोनों पक्षों में युद्ध होने लगता था। युद्ध में कूटनीति का भी बड़ा महत्व था। युद्धनीति में निष्णात मंत्री अपनी चतुराई, बुद्धिमत्ता और कला-कौशल द्वारा अनेक ऐसे प्रयत्न करते जिससे शत्रुपक्ष को आत्म-समर्पण करने के लिए बाध्य किया जा सके। इसके अलावा शत्रु सेना की गुप्त बातों का पता लगाने के लिए गुप्तचर काम में लिये जाते थे, जो कि शत्रुसेना में भर्ती होकर उनकी सब बातों का पता लगाते रहते थे। कूलवालय ऋषि की सहायता से राजा कूणिक ने वैशाली के स्तूप को नष्ट कराकर, राजा चेटक को पराजित करने में सफलता प्राप्त की थी।[3]

(III) अस्त्र-शस्त्र

जैन साहित्य में जिन युद्धों का उल्लेख है उनमें अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग किया जाता था। इनमें मुदगर, मुसंढि (यह एक प्रकार का मुद्‌गर), करकय (ककच-आरी), शक्ति (त्रिशूल), हल, गदा, मूसल, चक्र, कुन्त (भाला), तोमर (एक प्रकार का बाण), शूल, लकुट, भिंडिपाल (मुद्‌गर अथवा मोटे फलवाला कुन्त), सब्बल (लोहे का भाला), पट्टिश (जिसके दोनों किनारों पर त्रिशूल हो), चर्मेष्ट (चर्म से आवेष्टित पाषाण), असिबेटक (ढाल सहित तलवार), खड्‌ग, चाप (धनुष), नाराच (लोहबाण), कणक (बाण), कर्तरिका, वासी (लकड़ी छीलने का औजार-बसोला), परशु (फरसा) और शतघ्नी मुख्य थे।[4] युद्ध के लिए कवच अत्यन्त उपयोगी होता था।

---

१. आ० चूर्णी पृ० १७२-७३

२. राजा प्रद्योत और दुर्मुख के युद्ध में गरुड व्यूह और सागरव्यूह रचे जाने का उल्लेख है। उत्तराध्ययन टीका ९.

३. आ० चूर्णी २, पृ० १७४.

४. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० १०७.

बाणों में नाग-बाण, तामस-बाण, पद्मबाण, वह्निबाण, महापुरुष-बाण और महारुधिर बाण आदि मुख्य थे।[1] ये बाण अद्भुत तथा शक्तिशाली होते थे। नाग बाण को जब धनुष पर चढ़ाकर छोड़ा जाता था तो वह जलती हुई उल्का के दण्डरूप में शत्रु के शरीर में प्रवेश कर, नाग बनकर उसे चारों ओर से लपेट लेता था। तामस वाण छोड़ने पर रणभूमि में अन्धकार ही अन्कार व्याप्त हो जाता था। महायुद्ध में महोरग, गरुड़, आग्नेय, वायव्य और शैल आदि अस्त्रों का प्रयोग भी किया जाता था।

ध्वजा और पताका रणभूमि में बहुत ही उपयोगी होती थी। सैनिक अपने बाणों द्वारा ध्वजा को छिन्न-भिन्न कर देते थे। शत्रु के रथ में ध्वजा पड़ जाने पर युद्ध का अन्त हो जाता था। पटह और भेरियों का शब्द भी युद्ध के समय होता था, जो योद्धाओं को युद्ध के लिए प्रोत्साहित करता था।

□ □ □

१. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वक्ष० २, रामायण १/२७/१६ आदि

षष्ठ अध्याय :

(क) न्याय-व्यवस्था

(१) न्याय : स्वरूप एवं प्रकार :

जैन पुराणों के अनुशीलन से हमें न्याय-व्यवस्था का भी ज्ञान प्राप्त होता है। जैन मान्यतानुसार राजा स्वतः ही न्याय करता था। जैसा कि पद्म पुराण में वर्णित है कि वह राज्य का सर्वोच्च न्यायाधीश होता था। राजा सूर्यास्त तक न्यायालय का कार्य करता था। इसके पश्चात् अन्तः-पुर में जाता था।[1] महापुराण में वर्णित है कि धार्मिक राजा अधार्मिक (नास्तिक) लोगों को दण्ड देता था।[2] पद्म-पुराण में व्यवहार शब्द का प्रयोग मुकदमे के लिए हुआ है।[3] जिस आसन पर बैठकर राजा न्याय सुनाता था उसे "धर्मासन" कहा गया है।[4] राजा के अतिरिक्त अन्य न्यायाधीश भी होते थे, जिन्हें "धर्माधिकारी" की संज्ञा प्रदान की गई थी।[5] जैन पुराणों में न्यायाधीशार्थ "अधिकृत[6] और दण्डधर"[7] शब्दों का उल्लेख मिलता है। जैनेत्तर साहित्य एवं पुरातात्त्विक साधनों से न्यायाधीश के विषय में ज्ञान प्राप्त होता है। कौटिल्य ने दौरव्यावहारिक शब्द का

---

१. पद्म पु० १०६/१५०

२. अधर्मस्येषु दण्डस्य प्रणेता धार्मिको नृपः। महा० पु० ४०/२००.

३. पद्म पु० १०६/१५२

४. वही १०६/१४६

५. महा० पु० ५/७

६. वही ५६/१५४

७. हरिवंश पु० १६/२५५

प्रयोग न्यायाधीशार्थ किया है। अशोक के शिला-लेख में नगर-न्यायाधीश को "अधिकरणिक" की संज्ञा दी है।[1]

मनु का कथन है कि जो राजा अदण्डनीय व्यक्ति को दण्ड देता है और दण्डनीय को दण्ड नहीं देता वह नरक-गामी होता है।[2] आचार्य शुक्र ने राजा के आठ कर्त्तव्यों में दुष्ट-निग्रह को भी प्रधान कर्त्तव्य माना है।[3] महाभारत के अनुसार न्याय-व्यवस्था का यदि उचित प्रबन्ध न हो तो राजा को स्वर्ग तथा यश की प्राप्ति नहीं हो सकती।[4] याज्ञवल्क्य का कथन है कि न्याय के निष्पक्ष प्रशासन से राजा को वही फल प्राप्त होता है। अतः निष्पक्ष न्याय राजा को यज्ञ एवं स्वर्ग को प्रदान करने वाला तथा प्रजा को सुख एवं शान्ति प्रदान करने वाला होता है। जैन मान्यतानुसार तत्कालीन समय में न्याय का मुख्य सिद्धान्त यह था कि राजा कुशल एवं योग्य मंत्रियों द्वारा जांच किये बिना अपराधी को दण्ड नहीं देता था।

न्याय के महत्त्व पर जैन पुराणों में यथेष्ट रूप से वर्णन किया गया हैं। महापुराण में न्याय को राजाओं का सनातन धर्म माना गया है।[5] महापुराण में वर्णित है कि राजा का दाहिना हाथ भी दुष्ट हो जाये अर्थात् दुष्कर्म करने लगे तो उसे भी काट कर शरीर से पृथक करने के लिए तत्पर रहना चाहिए।[6] इस कथन से राजा की न्यायप्रियता प्रतिपादित होती है। इसी पुराण में यह भी वर्णित है कि राजा को स्नेह, मोह, आसक्ति और भय आदि के कारण नीति-मार्ग का उल्लंघन नहीं करना चाहिए।[7] न्याय पथगामी व्यक्ति को न्याय-मार्ग में बाधक स्नेह का परित्याग करना चाहिए।[8] महापुराण में पुत्र से अधिक न्याय की महत्ता का प्रति-

---

१. जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन पृ० २६३.
२. मनुस्मृति ८/१२८
३. शुक्रनीतिसार अ० १, श्लोक १२४, पृ० २५
४. महाभारत शान्तिपर्व ६९/३२.
५. सोऽयं सनातनः क्षात्रो धर्मो रक्ष्यः प्रजेश्वरैः। महा० पु० १८/२५६.
६. दुष्टो दक्षिणहस्तोऽपि स्वस्य छेद्यो महीभुजा। महा० पु० ६७/१११
७. महा० पु० १७/११०, व्यवहारभाष्य १, भाग ३ पृ० १३२
८. न्यायानुवर्तिनां युक्तं न हि स्नेहानुवर्तनम्। महा० पु० ६७/१००

पादन है ।[1] इसी पुराण में यह भी उल्लिखित है कि राजा को प्रजा-पालन में पूर्णरूपेण न्यायोचित रीति का अनुकरण करना चाहिए क्योंकि इस प्रकार पालित प्रजा कामधेनु के समान मनोरथों को पूर्ण करती है ।[2]

(२) **न्याय के प्रकार** :—

जैन पुराण में न्याय के प्रकार का भी वर्णन किया गया है। महा-पुराण में न्याय के दो प्रकार बताए गये हैं। (१) दुष्टों का निग्रह और (२) शिष्ट पुरुषों का पालन।[3] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त कार्यों के सिद्धार्थ ही न्याय का उपयोग है।

(II) **न्यायाधीश** :—

राज्य में शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए न्याय-व्यवस्था की आवश्यकता होती है । न्याय-व्यवस्था को चलाने के लिए न्यायाधीश की आवश्यकता होती है। जैन पुराणों के अनुसार जैसा कि पूर्व में बताया गया है कि न्यायाधीश का कार्य स्वयं राजा ही करता था। जैन ग्रन्थों में न्यायाधीश के लिए कारणिक अथवा रूपयक्ष (पालि में रूप-दक्ष) शब्द का प्रयोग हुआ है। रूपयक्ष को माठर के नीतिशास्त्र और कौटिल्य की दण्डनीति में कुशल होना चाहिए। व्यवहार भाष्य में वर्णित है कि न्यायाधीश को निर्णय देते समय निष्पक्ष रहना चाहिए।[4] कौटिल्य का कहना है कि राजा उचित दण्ड देने वाला होना चाहिए।

(III) **शपथ** :—

महापुराण में शपथ पर भी प्रकाश डाला गया है । गवाह को गवाही (साक्षी) देते समय राजा के समक्ष धर्माधिकारी (न्यायाधीश) द्वारा कथित शपथ ग्रहण करनी पड़ती थी। यह प्रथा आज भी न्यायालयों में प्रचलित है।

---

१. हित्वा जेष्ठंसुतं लोकम् अकरोन्न्यामभोरसम् । महा० पु० ४५/६७.

२. त्वया न्यायधनेनणं भवितव्य प्रजाधृतो ।
प्रजा कामदुवा धेनुः मता न्यायेन योजिता । महा पु० ३८/२६९.

३. न्यायश्च द्वितीयो दुष्टनिग्रहः शिष्टपालनम् । महा पु० ३८/२५९

४. **व्यवहारभाष्य** १, भाग ३, पृ० १३२.

(ख) अपराध एवं दण्ड :—

प्राचीन राजनीतिज्ञों ने राजसत्ता के अन्तिम आधार को दण्ड या बलप्रयोग निहित किया है। मनु का मत है कि यदि राजसत्ता अपराधियों को दण्ड न दे तो "मत्स्य-न्याय" का बोलबाला हो जायेगा। अर्थात् दण्ड के भय से ही लोग न्याय का अनुसरण करते हैं। जब सब लोग सोते हैं उस समय दण्ड उनकी रक्षा करता है।[1] मनु ने दण्डनायक व्यक्ति को राजा स्वीकार नहीं किया है, अपितु दण्ड को ही शासक स्वीकृत किया है।[2] कौटिल्य ने दण्डनीति के चार प्रमुख उद्देश्य निरूपित किये हैं। १. उपलब्ध की प्राप्ति, २. लब्ध का परिरक्षण, ३. रक्षित का विवर्धन, ४. विवर्धित का सुपात्रों में विभाजन।[3] दण्ड के विषय में भी इसी प्रकार का विचार अन्य जैनेत्तर आचार्यों ने व्यक्त किया है।[4] प्राचीन आचार्यों ने विभिन्न प्रकार के अपराधों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के दण्डों की व्यवस्था की है। कौटिल्य का कहना है कि दण्ड का प्रयोग सीमित होना चाहिए। दण्ड न तो अत्यन्त कठोर होना चाहिए और न अत्यधिक नम्र (सरल)। अपराध के अनुसार ही दण्ड होना चाहिए।[5] मनु के अनुसार देश, काल, शक्ति एवं विद्या को ध्यान में रख कर दण्ड का निर्धारण करना चाहिए।[6] माता-पिता आदि को एक सदृश अपराध के लिए दण्ड भी समान देने की व्यवस्था थी।[7] वस्तुतः दण्ड का उद्देश्य विनाशात्मक एवं संहार-कारक न होकर संशोधनात्मक होता था।[8]

---

१. दण्डः शक्ति प्रजा सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥ मनु० ८/१४११

२. स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शास्ता चसः। मनु ७/७

३. द्रष्टव्य:काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र भाग ३, पृ० ६.

४. महाभारत शान्तिपर्व १०२/५७ याज्ञवल्क्य १/३१७ नीतिसार १/१८.

५. अर्थशास्त्र १/४ पृ० १३

६. तं देश कालौशक्ति च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः।
यथार्हतः सम्प्रणयेन्नरेण्वन्यायवर्तिषु मनु० ७/१६

७. माता-पिता च भ्राता च भार्या चैव पुरोहितः।
नादण्ड्यो विद्यते राज्ञो यः स्वधर्मेण तिष्ठति। महाभारत शान्तिपर्व। १२१/६०

८. उपवासमेकरात्रं दण्डोत्सर्गे नराधिपः।
विशुद्धयेदात्म शुद्धयर्थं त्रिरात्रं तु पुरोहितः। वही—३/१७

जैन मान्यतानुसार प्राचीन समय में किसी भी प्रकार की दण्ड-व्यवस्था नहीं थी। सभी लोग मिल जुलकर जीवन-यापन करते थे। उस समय किसी भी प्रकार की उच्छृंखलता नहीं थी। लेकिन धीरे-धीरे जब कुलकर-व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ उस समय उच्छृंखलता के बीज वपन होने लगे जिसके फलस्वरूप दण्ड-नीति का प्रारम्भ हुआ। यह कुलकर-व्यवस्था भगवान ऋषभदेव से पूर्व थी उस समय यौगलिक काल चल रहा था। जैन मान्यतानुसार कुलकरों की संख्या में मतभेद बतलाया गया है। किसी मत के अनुसार ७ कुलकरों का उल्लेख है और किसी मत के अनुसार १५ या १४ कुलकरों का उल्लेख आता है जिनके बारे में विस्तृत जानकारी हम पूर्व में दे चुके हैं। इस प्रकार कुलकर व्यवस्था के अन्तर्गत तीन प्रकार की दण्डनीतियां प्रचलित थीं। जो कि निम्नलिखित हैं :—(१) हाकार दण्डनीति, (२) माकार दण्डनीति, (३) धिक्कार दण्डनीति।

(१) **"हाकार" दण्डनीति** :—इस दण्डनीति का प्रारम्भ पाँच कुलकरों के समय में हुआ था। जहाँ सात कुलकरों का उल्लेख है वहां बताया गथा है कि प्रथम दो कुलकरों के समय इस नीति का विकास हुआ था। इस समय के लोग बहुत भोले थे। केवल "हा" कह देने मात्र से ही समझ जाते थे और आगे अपराध नहीं करते थे।

(२) **"माकार" दण्डनीति** :—जब "हाकार" दण्डनीति का लोग उल्लंघन करने लगे तब छठे से दसवें (जहाँ सात का उल्लेख है उसके अनुसार तीसरे, चौथे) कुलकर के समय में "माकार" दण्डनीति का प्रादुर्भाव हुआ। इस नीति के अनुसार "मा" (मत) कह देने मात्र से ही अपराधी दण्डित समझा जाता था। इस समय यौगलिक लोग पूर्व की अपेक्षा कुछ चालाक हो गये थे।

(३) **"धिक्कार" दण्डनीति** :—जब "माकार" दण्डनीति का भी उल्लंघन होने लगा तब अन्तिम के पाँच अथवा अन्तिम के तीन कुलकरों के समय में "धिक्कार" दण्डनीति चलती रही। इस नीति के अनुसार अपराधी को "धिक्" कह कर दण्डित किया जाता था। इस समय प्रजा के

---

१. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वक्ष ६, पृ० ११५-११८
आ० चू० पृ० १३० आ० नि० पृ ५१ महा पु० पृ० ६५

स्वभाव में पूर्व की अपेक्षा बहुत कुछ परिवर्तन आ गया था। 'धिक्कार" दण्डनीति ऋषभदेव के समय तक चलती रही थी। क्योंकि भगवान ऋषभदेव को अन्तिम कुलकर भी स्वीकार किया गया है।

जैन मान्यतानुसार ऋषभस्वामी को प्रथम राजा स्वीकार किया गया है। इससे पूर्व कोई भी राजा नहीं हुआ था। ऋषभ स्वामी ने राजपद पर आरूढ़ होने के तुरन्त पश्चात् अपराधों के निरोध हेतु चार प्रकार की नीति प्रारम्भ की। साम, दाम, दण्ड और भेद। इसके साथ ही चार प्रकार की दण्ड-व्यवस्था भी बनाई।

(१) **परिभास :—**

इस दण्ड-व्यवस्था के अनुसार अपराधी को आक्रोशपूर्ण शब्दों में नजरबन्द रहने का दण्ड देना था।

(२) **मण्डलबन्ध :—**

इस दण्ड-व्यवस्था के अनुसार अपराधी को सीमित क्षेत्र में रहने का आदेश दिया जाता था।

(३) **चारक :—**

इस दण्ड-व्यवस्था के अनुसार अपराधी को बन्दीगृह में बन्द रखा जाता था।

(४) **छविच्छेद :—**

इस दण्ड-व्यवस्था के अनुसार अपराधी के हाथ, पैर, नाक, आदि अंगों का छेदन किया जाता था।

उपर्युक्त चार दण्डनीतियों के विषय में कुछ आचार्यों में मतभेद हैं। कुछ आचार्यो का मत है कि अंतिम दो नीतियाँ (चारक बंध और छविच्छेद) भरत के समय में प्रचलित हुई थी। भरत तक सात दण्डनीतियां प्रचलित हुई थी। परन्तु आचार्य भद्रबाहु के अनुसार बंध और छविच्छेद नीति ऋषभदेव के समय में ही प्रचलित हो गई थी।[1]

---

१. **जैन धर्म का मौलिक इतिहास** पृ० २०.

आचार्य जिनसेन के अनुसार बंध और बन्धन आदि शारीरिक दण्ड भरत के समय में प्रचलित हुए।[1] इस प्रकार जैनागमों में सात प्रकार की दण्डनीति वर्णित है।

आचार्य हरिभद्रकालीन शासन पद्धति के अन्तर्गत दण्ड व्यवस्था बहुत कठोर थी।[2] साधारण से साधारण अपराध पर कठोर दण्ड दिया जाता था। समराइच्चकहा के अनुसार पुरुषजातक तथा परद्रव्यावहारी की उसके जीते जी आंख, कान, नाक हाथ, तथा पांव आदि अंग काटकर अंग भेद कर दिया जाता था।[3]

चोरी करने पर भयंकर दण्ड दिया जाता था। राजा चोरों को जीते जी लोहे के कुम्भ में बंद कर देते, उनके हाथ कटवा देते और शूली पर चढ़ा देना तो साधारण बात थी। एक बार की बात है कि किसी ब्राह्मण ने एक बनिये की रुपयों की थैली चुरा ली। राजा ने हुक्म दिया कि अपराधी को सौ कोड़े लगाये जायें, नहीं तो विष्ठा खिलाई जाये। ब्राह्मण ने कोड़े खाना मंजूर कर लिया, लेकिन कोड़ों की मार न सह सकने के कारण उसने बीच में ही विष्ठा खाने की इच्छा व्यक्त की।[4]

इस प्रकार का एक उदाहरण जिनसेन कृत महापुराण में आता है कि एक दिन कोतवाल ने एक विवदेग नाम का चोर पकड़ा। उसके हाथ में जो धन था उसे लेकर कहा कि बाकी का धन और दो। धन न देने पर रक्षकों ने उसे दण्ड दिया तब उसने कहा कि बाकी का धन मैंने विमति को दे दिया, मैंने नहीं लिया। जब विमति से पूछा गया तब उसने कह दिया कि मैंने नहीं लिया। इसके बाद कोतवाल ने वह धन किसी उपाय से विमति के घर ही देख लिया, विमति को दण्ड देना निश्चित हुआ। दण्ड देने वालों ने कहा कि या तो मिट्टी की थाली में विष्ठा खाओ, या मल्लों

---

२. महा पु० ३/२१६, पृ० ६५ शरीर दण्डनं चैव बध बंधादिलक्षणाम्।
नृणां प्रबल दोषाणां भरतेन नियोजितम्।

३. समराइच्चकहा एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ ८३.

४. वही

४. आचारांग चूर्णी २ पृ० ६५.

के तीस मुक्कों की चोट सहो, या अपना सारा धन दो । जीवित रहने की इच्छा से उसने तीनों दण्ड सहन किये ।[1] अर्थात् आदि पुराण के अनुसार अपराध सिद्ध होने पर अभियुक्त को मृत्तिका भक्षण, विष्ठा भक्षण, मल्लों द्वारा मुक्के तथा सर्वस्व हरण आदि प्रकार का दण्ड दिया जाता था ।

इसके अलावा राजकर्मचारी चोरों को वस्त्रयुगल पहनाते, गले में कनेर के पुष्पों की माला डालते, और उनके शरीर को तेल से सिक्त कर उस पर भस्म लगाते । फिर उन्हें नगर में चौराहों पर घुमाया जाता, घूंसों, लातों, डंडों और कोड़ों से पीटा जाता । उनके होंठ, नाक और कान काट लिए जाते । रक्त से लिप्त मांस को उनके मुँह में डाला जाता और फिर खण्ड-पटह से अपराधों की घोषणा की जाती थी ।[2]

अभियुक्त को नगर में बाँध के साथ घोषणा पूर्वक घुमाने का तात्पर्य लोगों को अपराध न करने के लिए भयभीत करना था ताकि नगर में अथवा राज्य में अपराधों की कमी हो ।

इसके अतिरिक्त लोहे या लकड़ी में अपराधियों के हाथ-पैर बांध दिये जाते, खोड़ में पैर बांधकर ताला लगा दिया जाता, हाथ, पैर, जीभ, सिर, गले की घंटी अथवा उदर को छिन्न-भिन्न कर दिया जाता । कलेजा, आंख, दांत, और अण्डकोश आदि मर्म स्थानों को खींचकर निकाल लिया जाता था । शरीर के छोटे-छोटे टुकडे कर दिये जाते, रस्सी में बाँध कर गड्ढे में और हाथ बांध कर वृक्ष की शाखा में लटका देते, हाथी के पैर के नीचे डालकर रौंदवा देते । चंदन की भाँति पत्थर पर रगड़ते, दही की भाँति मथते, कपडे की भांति पछाड़ते, गन्ने की भांति पेलते, मस्तक को भेद देते, खार में फेंक देते, खाल उधेड़ देते, लिंग को मरोड़ देते । आग में जला देते, कीचड़ में धंसा देते । गर्म शलाका शरीर में घुसेड़ देते । धार, कटु और तिक्त पदार्थ जबर्दस्ती पिलाते, छाती पर पत्थर रखकर तोड़ते, लोहे के डंडों से वक्षस्थल, उदर और गुह्य अंगों का छेदन करते, लोहे की मुग्दर से कूदते, चांडालों के मुहल्ले में रख देते । देश से निर्वासित

१. आदि पु० ४६/२९२-९३/४७१-७२.

२. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ८२.

कर देते, लोहे के पिंजरें में बन्द कर देते, भूमिगृह अंधकूप या जेल में डाल देते, और शूली पर चढ़ा कर मार डालते ।[1]

इस प्रकार जैन मान्यतानुसार चोरों को विभिन्न प्रकार की यातनायें देकर दण्डित किया जाता था । इसके अतिरिक्त यदि दण्ड देने वाला व्यक्ति राजा की आज्ञानुसार चोर को दण्ड नहीं देता तो राजा उस व्यक्ति भी दण्ड देता था क्योंकि राजा यह समझता था कि जरूर इसने अपराधी व्यक्ति से कुछ घूस खा ली होगी ।

जिनसेन कृत महापुराण में इस प्रकार का उदाहरण आया है । एक बार राजा ने एक चाण्डाल को आज्ञा दी कि तू विद्युच्चोर को मार डाल परन्तु आज्ञा पाकर भी उसने कहा कि मैं इसे नही मार सकता क्योंकि मैंने एक मुनि से हिंसादि छोड़ने की प्रतिज्ञा ले रखी है । ऐसा कहकर जब राजा की आज्ञा नहीं मानी तब राजा ने कहा कि इसने कुछ रिश्वत (घूंस) खा ली है इसलिए उसने क्रोधित होकर चोर और चाण्डाल दोनों को निर्दयतापूर्वक सांकल से बंधवा दिया ।[2]

इसके अलावा चोरों की भांति दुराचारियों को भी दण्ड दिये जाते थे । दुराचारियों को भी शिरोमुंडन, तर्जन, ताडन, लिंगच्छेदन, निर्वासिन और मृत्यु आदि दण्ड दिये जाते थे ।[3] वाणिय ग्राम-वासी उज्झित नाम का कोई युवक कामध्वजा वेश्या के घर नित्य नियम से जाया करता था । राजा भी वेश्या से प्रेम करता था । एक दिन उज्झित कामध्वजा के यहाँ पकड़ा गया । राजा की आज्ञानुसार राजकर्मचारियों ने उसकी खूब मरम्मत की । उसके दोनों हाथ उसकी पीठ पीछे बाँध दिये, और नाक, कान काट, उसके शरीर को तेल से सिंचित कर, मैले-कुचैले वस्त्र पहना कर,

---

१. विपाकसूत्र २, ३, औपपातिक सूत्र ३८, पृ १६२ आदि; तथा देखिये अर्थशास्त्र शामशास्त्री ४/८-१३, ८३-८८.

२. महा पु० पृ ४७२, गाथा २६६.

३. निशीथचुर्णी १५, ५०६०, मनुस्मृति ८/३७४ : याज्ञवल्क्यस्मृति ३/५/२३२ में आचार्यपत्नी और अपनी कन्या के साथ विषयभोग करने पर लिङ्गच्छेद का विधान है ।

कनेर के फूलों की माला गले में डाल, उसे अपने ही शरीर का मांस खिलाते हुए, खोखरे बांस से ताड़ना करते हुए, उसे वध्य स्थान को ले गये।[1]

सगड़ और सुदर्शना वेश्या को भी कठोर दण्ड का भागी होना पड़ा। सुदर्शना राजा के मंत्री की रखैल थी, और सगड़ उसके यहाँ छिपकर जाया करता था। पकड़े जाने पर राजा ने दोनों को मृत्यु-दण्ड का आदेश दिया।[2]

पोदनपुर के कमठ का अपने भ्राता की पत्नी के साथ अनुचित सम्बन्ध हो जाने के कारण उसे मिट्टी के सकोरे की माला पहना, गधे पर बैठा, सारे नगर में घुमाकर निर्वासित कर दिया गया।[3] ब्राह्मणों को दण्ड देते समय सोच-विचार से काम लिया जाता था। व्यवहार-भाष्य में एक ब्राह्मण की कथा आती है जिसे किसी चांडाली के साथ व्यभिचार करने पर, केवल वेदों का स्पर्श कराकर छोड़ दिया गया।[4]

चोरी और व्यभिचार की भांति हत्या भी महान् अपराध गिना जाता था। हत्या करने वाले अर्थदण्ड (जुर्माना) और मृत्युदण्ड के भागी होते थे। बृहत्कल्पभाष्य में उल्लेख है कि पुरुष के लिए तलवार उठाने पर ८० हजार जुर्माना किया जाता, प्रहार करने पर मृत्यु न हो तो भिन्न-भिन्न देशों की प्रथा के अनुसार जुर्माना देना पड़ता तथा यदि मृत्यु हो जाये तो भी हत्यारे को ८० हजार दण्ड भरना पड़ता।[5]

मथुरा के नंदिषेण नामक राजकुमार ने अपने पिता की मृत्यु करने के लिए राजा के नाई के साथ मिल कर राजा की हत्या का षडयंत्र रचा,

---

१. विपाकसूत्र २, याज्ञवल्क्यस्मृति ३.५२ ३२ आदि, मनुस्मृति ८/३७२ आदि।

२. विपाक सूत्र ४.

३. उत्तराध्ययन टीका २३.

४. व्यवहारभाष्य पीठिका गा० १७, पृ० १०

५. बृहत्कल्प भाष्य ४, ५१०४.

लेकिन जब षडयंत्र का भेद खुल गया तो राजकुमार को लोहे के सिंहासन पर बैठाकर, तप्त लोहे के कलशों में भरे हुए खारे तेल से तपते हुए लोहे का हार और मुकुट उसे पहना दिये गये। इस प्रकार नंदिषेण मृत्यु दण्ड का भागी हुआ।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि जैन ग्रन्थों के अनुसार प्राचीन समय में दण्ड देते समय राजा यह नहीं देखता था कि यह मेरा पुत्र है, यह मेरा भाई है. सभी को कानून अनुसार दण्ड दिया जाता था।

उपर्युक्त कथन से यह भी स्पष्ट होता है कि राजकुमार राज्यप्राप्ति के लिये अपने पिता को मारने के लिए भी षड्यंत्र रचते थे।

इसके अलावा हत्या करने वाली स्त्रियों को भी दण्ड दिया जाता था। राजा पुष्पनंदि की रानी देवदत्ता अपनी सास से बहुत ईर्ष्या करती थी। उसने अपनी सास को तपे हुए लोहे के डण्डे से दागकर मरवा डाला। इस बात का जब राजा को पता चला तो उसने देवदत्ता को पकड़वाकर, उसके हाथों को पीठ पीछे बँधवा, और उसके नाक, कान कटवा उसे शूली पर चढ़वा दिया।[2]

इस उदाहरण से विदित होता है कि स्त्रियों को भी पुरुषों के समान ही दण्ड दिया जाता था। किसी पुरोहित ने अपनी गर्भवती कन्या को घर से निकाल दिया। वह किसी गंधी के यहाँ नौकरी करने लगी। कुछ समय पश्चात्, मौका पाकर उसने अपने मालिक (गंधी) के बहुमूल्य बर्तन और कपड़े चुरा लिये। गिरफ्तार कर लिये जाने पर प्रसव के बाद राजा ने उसे मृत्यु-दण्ड की सजा दी।[3]

(१) **चोरों के प्रकार :—**

जैन ग्रन्थों में चोरों के अनेक प्रकार बतलाये गये हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में आमोष, लोमहर (जान से मारकर सर्वस्व अपहरण करने वाले),

---

१. **विपाक सूत्र ६.**

२. वही

३. **आगम साहित्य में भारतीय समाज पृ० ८२.**

ग्रन्थिभेदक और तस्कर नाम के चोरों का उल्लेख है ।[1] अन्यत्र आक्रान्त, प्राकृतिक, ग्रामस्तेन, देशस्तेन, अन्तरस्तेन, अध्वानस्तेन और खेतों को खनन करने वाले चोरों का उल्लेख किया गया है ।[2] जैन मान्यतानुसार, प्राचीन समय में चोर बड़े साहसी और निर्भीक होते, तथा जो भी सामने आता, उसे मार डालते । चोर राजा के अपकारी, जंगल, गांव, नगर, पथ और गृह आदि के विध्वंसकर्ता, जहाजों को लूट लेने वाले, यात्रियों का धन अपहरण करने वाले, जुआरी, जबर्दस्ती कर वसूल करने वाले, स्त्री के वेश में चोरी करने वाले, सेंध लगाने वाले, गठकतरे, गाय-घोड़ा, दास-दासी, बालक और साध्वियों का अपहरण करने वाले तथा सार्थ को मार डालने वाले हुआ करते थे। चोर विकाल में गमन करते, किंचित् दग्ध मृत कलेवर, अथवा जंगली जानवरों का मांस या कन्दमूल भक्षण किया करते ।[3] चोरी करने वालों को ही नहीं, बल्कि चोरी की सलाह देने वाले, चोरी का भेद जानने वाले, चुराई हुई वस्तु को कम मूल्य पर खरीदने वाले, चोरों को अन्न-दान या और किसी भी प्रकार का आश्रय देने वाले को भी चोर कहा है । इसके अलावा चोर में विश्वास की भावना पैदा कर, उसकी कुशल-क्षेम पूछकर, उसे संकेत देकर, न पकड़वाने में उसकी मदद कर, जिस मार्ग से चोर गया हो उस मार्ग का उलटा मार्ग बताकर, तथा उसे स्थान, आसन, भोजन, तेल-जल, अग्नि और रस्सी आदि प्रदानकर चोर का हौसला बढ़ाया जाता था, ऐसा करने वालों को अच्छी नज़र से नहीं देखा जाता था, तथा उन्हें भी दण्ड का भागी बनना पड़ता था ।[4]

(II) चोरी के प्रकार :—

सेंध लगाना—

प्राचीन ग्रंथों में सेंध लगाने के विविध प्रकार बतलाये गये हैं। कपिशीर्ष (कंगूरा), कलश, नन्दावर्त, कमल, मनुष्य और श्रीवत्स के

---

१. उत्तराध्ययन ९.
२. निशीथभाष्य २१, ३६५० ।
३. ज्ञाताधर्म कथांग १८, पृ० ५५५.
४, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज पृ० ७२-७३.

आकार की सेंध लगाई जाती थी। चोर उनके अन्दर से घर में प्रवेश करते थे। एक बार किसी चोर ने सेंध लगाकर उसमें से घर में प्रवेश करना चाहा। वह पांवों के बल अन्दर घुसा ही था कि मकान मालिक ने उसके पांव पकड़ कर खींच लिए। इधर से उसके साथियों ने उसका सिर पकड़कर खींचना आरम्भ किया। इतने में ही कपिशीर्ष के आकार की सेंध टूट कर गिर पड़ी, और चोर उसी में दबकर मर गया।[1] चोर पानी की मशक और तलोदपाटिनी विछा आदि उपकरणों से सज्जित हो प्रायः रात्रि के समय अपने दलबल के सहित चोरी करने निकलते थे।[2]

मृच्छकटिक में पद्मव्याकोश, भास्कर, बालचन्द्र, वापी, विस्तीर्ण, स्वस्तिक और पूर्णकुम्भ नामक सेंधों का उल्लेख है।[3] भगवान कनक शक्ति के आदेशानुसार यदि पक्की ईटों का मकान हो तो ईंटों को खींचकर, कच्ची ईटों का मकान हो तो तोड़कर, मिट्टी की ईंटों का हो तो ईंटों को गीला कर तथा लकड़ी का मकान हो तो चीरकर सेंध लगाई जाती थी।[4] भास के चारुदत्त नाटक में सिंहाक्रान्त पूर्णचन्द्र, भाषास्य, चन्द्रार्थ, व्याघ्रवस्त्र, और त्रिकोण आकार की सेंधे बतायी गयी हैं। जातक ग्रन्थों में कहा गया है कि सेंध इस प्रकार लगानी चाहिए जिससे बिना किसी रुकावट के घर में प्रवेश किया जा सके।

(३) चोरों के प्राख्यान :—

जैनागम पुराणों में चोरों की अनेक ऐसी कथाएँ आती हैं जो कि अपनी बुद्धि का इस प्रकार उपयोग करते थे जिससे कि वह किसी की पकड़ में नहीं आते थे। चोरों की बुद्धि बहुत तेज होती थी। बेन्यातट नगर में मण्डित नाम का एक चोर रहता था। वह रात को चोरी करता था और दिन में दर्जी का काम करके अपनी आजीविका चलाता था। वह अपनी बहन के साथ किसी उद्यान के भूमिगृह में रहता था। इस भूमिगृह में एक कुआं था। जो कोई व्यक्ति चोरी का माल यहाँ ढोकर लाता, उसे पहले तो

---

१. उत्तराध्ययन ४.

२. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज पृ० ७४

३. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज पृ० ७३

४. वही

मण्डित की बहन आसन पर बैठाकर उसका पाद-प्रक्षालन करती, बाद में उसे कुएँ में ढकेल देती थी।

चोरों को पकड़ने वाले राजा भी उस समय बहुत चतुर तथा बुद्धिशाली होते थे। मूलदेव जब राजा बन गया तो उसने मण्डित चोर को पकड़ने के बहुत प्रयत्न किये, परन्तु उसका पता नहीं चला। एक दिन मूलदेव नीलवस्त्र धारण कर चोर की खोज में निकला। वह एक स्थान पर छिप कर बैठ गया। थोड़ी देर बाद वहां पर मण्डित आया, पूछने पर मूलदेव ने अपने को कापालिक भिक्षु बताया। मण्डित ने कहा चल तुझे आदमी बना दूँ। मूलदेव उसके पीछे-पीछे चल दिया। मण्डित ने किसी घर में सेंध लगाकर चोरी की, और चोरी का माल उसके सिर पर रखकर अपने घर पर लिवा लाया। मण्डित ने अपनी बहन को बुलाकर अतिथि के पाद-प्रक्षालन करने को कहा। लेकिन मण्डित की बहन को मूलदेव के ऊपर दया आ गयी और उसने उसे कुएँ में न ढकेल, भाग जाने का इशारा कर दिया।[1]

मूलदेव भागकर एक शिवलिंग के पीछे छिप गया। मण्डित ने अंधेरे में शिवलिंग को चोर समझ कर तलवार से उसके दो टुकड़े कर डाले। प्रातः काल होने पर मण्डित रोज की भांति दर्जी का काम करने राजमार्ग पर बैठ गया। मूलदेव ने मण्डित को राजदरबार में बुलवाया। मण्डित समझ गया कि रात वाला भिक्षु और कोई नही, राजा मूलदेव ही था। मुलदेव ने मण्डित की बहन से शादी करके बहुत सा धन प्राप्त किया और फिर मण्डित को शूली पर चढ़वा कर मरवा दिया।

उपर्युक्त कथा के अलावा मूलदेव, विजय और रोहिणेय चोर की कथाएँ भी जैन-ग्रन्थों में आती हैं। इनमें से रोहिणेय चोर इतना चतुर एवं बुद्धिशाली था कि उसे कोई नहीं पकड़ सका। यहां तक कि अभय कुमार भी चारों बुद्धियों का स्वामी भी चोर साबित नहीं कर सका। एक बार पकड़ लिये जाने पर भी चोरी का प्रमाण नहीं मिलनें पर अभय कुमार ने राजा श्रेणिक की आज्ञा से उसे छोड़ दिया। छूट जाने के पश्चात् रोहिणेय

---

१. उत्तराध्ययन टीका ४.

भगवान महावीर स्वामी के समवसरण में जाकर भगवान से आज्ञा लेकर स्वयं राजा के सामने कहता है कि मैं ही रोहिणेय चोर हूं जिसकी कि आप तलाश में हो। ऐसा कह कर वह राजा के मंत्री अमर कुमारादि व्यक्तियों को अपने स्थान पर ले जाकर सारा सामान राजा को वापिस कर दिया। और स्वयं ने भगवान के पास जाकर श्रवण दीक्षा अंगीकार कर ली।

उपर्युक्त कथानक से विदित होता है कि चोर स्वयं आत्मसमर्पण भी कर देते थे।

जेलखाने (चारग) :—

जैन मान्यतानुसार प्राचीन समय में जेलखानों की अत्यन्त शोचनीय दशा थी और उनमें कैदियों को दारुण कष्ट दिये जाते थे। कैदियों का सर्वस्व अपहरण कर उन्हें जेल-खाने में डाल दिया जाता, और क्षुधा, तृषा और शीत उष्ण से व्याकुल हो उन्हें कष्टमय जीवन व्यतीत करना पड़ता था। उनके मुख की छवि काली पड़ जाती, खांसी, कोढ़ आदि विभिन्न रोगों से वे पीड़ित रहते, नख, केश और रोम उनके बढ़ जाते तथा अपने ही मल-मूत्र में पड़े वे जेल में सड़ते रहते थे। उनके शरीर में कीड़े पड़ जाते, और उनका प्राणान्त होने पर उनके पैर में रस्सी बांध उन्हें खाई में फेंक दिया जाता। और भेड़िए, कुत्ते, गीदड़ और मार्जार वगैरह उनका भक्षण कर जाते थे।[1]

जेलखाने में तांबे, जस्ते, शीशे, चूने और क्षार के तेल से भरी हुई लोहे की कुंडियां गर्म करने के लिए आग पर रखी रहती, और बहुत से मटके हाथी, घोड़े, गाय, भैंस, ऊँट, भेड़ और बकरी के मूत्रों से भरे रहते। हाथ, पैर बांधने के लिए यहां अनेक काष्ठमय बंधन, खोड़, बेड़ी, शृंखला, मारने-पीटने के लिए बांस, बेंत, वल्कल और चमड़े के कोड़े, कूटने-पीटने के लिए पत्थर की शिलाएँ पाषाण और मुद्गर, बाँधने के लिए रस्से चीरने और काटने के लिये तलवार, आरियां और छुरे, ठोंकने

---

१. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज पृ० ८६,

के लिए लोहे की कीलें, बांस की खप्पचें, चुभाने के लिए छुरी, कुठार, नखच्छेद और दर्भतृणों आदि का उपयोग किया जाता था।

सिंहपुर नगर में दुर्योधन नाम का एक दुष्ट जेलर रहता था। वह जेल में पकड़कर आए हुए चोरों, परस्त्री-गामियों, गंठकतरों, राजद्रोहियों, ऋण-ग्रस्तों,बालघातकों, विश्वासघातकों, जुआरियों, और धूर्तों को अपने कर्मचारियों से पकड़वा, उन्हे सीधा लिटवाता और लोहदण्ड से उनके मुँह खुलवाकर उसमें गर्म-गर्म ताँबा, खारा तेल तथा हाथी-घोड़ों का मूत्र डालता। अनेक कैदियों को उल्टा लिटवाकर उन्हें खूब पिटवाता, उनकी छाती पर शिला रखवा और दोनों ओर से दो पुरुषों से लाठी पकड़वाकर जोर-जोर से हिलवाता। उनका सिर नीचे और पैर ऊपर करके गड्ढे में से पानी पिलवाता, असिपत्र आदि से उनका विदारण करवाता, क्षार तेल को उनके शरीर पर चुपड़वाता, उनके मस्तक, गले की घण्टी, हथेली, घुटने और पैरों के जोड़ में लोहे की कीलें ठुकवाता, बिच्छू जैसे कांटों को शरीर में घुसाता, सुई आदि को हाथों-पैरों की उंगलियों में ठुकवाता, नखों से भूमि खुदवाता, नखच्छेदक आदि द्वारा शरीर को पीड़ा पहुंचवाता, घावों पर गीले दर्भकुश बंधवाता और उनके सूख जाने पर तड़तड़ की आवाज से उन्हे उखड़वाता।[1]

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि जेलखानों में सभी प्रकार के दण्ड की व्यवस्था रहती थी। जेलों में कोतवाल तथा जेलर बहुत ही क्रूर स्वभाव के होते थे। वे निर्दयतापूर्वक दण्ड देते थे।

राजगृह का कारागार :—

राजगृह में धन्य नाम का एक सार्थवाह रहता था। एक अपराध किये जाने पर नगर-रक्षकों ने पकड़कर उसे जेल में डाल दिया। उसी कारागार में धन्य के पुत्र का हत्यारा विजय नाम का चोर भी सजा काट रहा था। दोनों को एक खोड़ में ही बांध दिया जाता, इसलिए दोनों को सदा साथ-साथ रहना पड़ता था। धन्य की स्त्री प्रातः काल भोजन तैयार कर उसे भोजन-पिटक (टिफिन) में भरकर दासचेट के हाथ अपने पति के लिए भेजा करती थी। एक दिन विजय चोर ने धन्य के टिफिन में से

---

१. विपाक सूत्र ६, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज ८९.

भोजन माँगा, लेकिन धन्य ने देने से इन्कार कर दिया। एक बार भोजन के पश्चात् धन्य को शौच की हाजत हुई। धन्य ने विजय से एकान्त स्थान में (शौच के लिए) जाने को कहा। विजय ने कहा तुम तो खूब खाते-पीते हो, मोज करते हो, इसलिए तुम्हारा शौच स्वाभाविक है, लेकिन मुझे तो रोज कोड़े खाने पड़ते हैं, और सदा भूख-प्यास से पीड़ित रहता हूं। यह कह कर उसने धन्य के साथ जाने से इन्कार कर दिया। थोड़ी देर बाद धन्य ने फिर विजय से चलने को कहा। अंत में इस बात पर फैसला हुआ कि धन्य उसे अपने भोजन में से खाने को दिया करेगा। कुछ दिनों के पश्चात् अपने इष्ट-मित्रों के प्रभाव से बहुत सा धन खर्च करके धन्य कारागार से छूट गया। सर्वप्रथम क्षौरकर्म (हजामत) कराने के लिए वह अलंकारिक सभा मे गया।[१] वहाँ से पुष्करिणी में स्नान कर उसने नगर में प्रवेश किया। उसे देखकर उसके सगे सम्बन्धी बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उसका आदर सत्कार किया।[२]

राजा श्रेणिक को भी राजगृह के कारागार में कुछ समय तक कैदी बनाकर रखा गया था। प्रातःकाल और सायंकाल उसे कोड़ों से पीटा जाता, भोजन-पान उसका बंद कर दिया गया था, और किसी को उससे मिलने भी नहीं दिया जाता था। कुछ समय बाद उसकी रानी चेल्लणा को उससे मिलने की अनुमति दी गयी। वह अपने बालों में कोई पेय पदार्थ छिपाकर ले जाती थी, और उसका पान कर श्रेणिक जीवित रहता।[3]

पुत्रोत्पत्ति, राज्याभिषेक आदि उत्सवों के अवसर पर प्रजा का शुल्क माफ कर दिया जाता, और कैदियों को जेल से छोड़ दिया जाता था।[४]

---

१. अलंकारिक-सभा में वेतन देकर अनेक नाई रक्खे जाते थे। ये श्रमण अनाथ, ग्लान रोगी और दुर्बलों का अलंकारकर्म करते थे। **ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र** १३, पृ० ३८७.

२. **ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र** २, पृ० १४४-१५०.

३. **आ० चू०** २, पृ० १७१.

४. **ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र** १. पृ० ५०-५१.

उपर्युक्त विवरण से हमें जैन पुराण साहित्य, न्याय-व्यवस्था किस प्रकार की थी, इसका पूर्णरूपेण ज्ञान प्राप्त होता है।

(१) **मुकदमे** :

जैन मान्यतानुसार न्यायालयों (राजकुल)में मुकद्दमे पेश किये जाते थे। प्राचीन समय में चोरी, डकैती, परदार-गमन, हत्या और राजा की आज्ञा का उल्लंघन आदि अपराध करने वालों को राजकुल में उपस्थित किया जाता था। यदि कोई मुकदमा लेकर न्यायालय में जाता तो उससे तीन बार वही बात पूछी जाती। यदि वह तीनों बार एक ही जैसा उत्तर देता तो उसकी बात सच्ची मानी जाती थी और फैसला उसकी तरफ का ही होता।[1]

एक बार दो सौतों के बीच झगड़ा हो गया था। उनमें से एक सौत पुत्रवती थी, दूसरी के पुत्र नहीं था। जिसके पुत्र नहीं था वह पुत्र को खूब लाड़-प्यार से रखती थी। इसका मतलब यह हुआ कि धीरे-धीरे वह लड़का अपनी सौतेली मां से इतना धुल-मिल गया कि उसी के पास रहने लगा और अपनी खास मां को भूल गया। एक दिन लड़के को लेकर दोनों में झगड़ा चालू हुआ। दोनों लड़के को अपना-अपना बताने लगी। जब कुछ फैसला नहीं हुआ तो वे दोनों न्यायाधीश के पास गई। न्यायाधीश ने बड़े ही विवेक से लड़के के दो टुकड़े कर दोनों सौतों को आधा-आधा बाँट देने का हुक्म दिया। यह सुनकर लड़के की जो खास माँ थी वह बहुत घबरायी। और उसने न्यायाधीश से यह निवेदन किया "महाराज मुझे पुत्र नहीं चाहिए, मेरी सौत के पास ही रहने दीजिए।" यह सुनकर न्यायाधीश समझ गया कि यह,पुत्र किसका है। न्यायाधीश ने लड़के की माँ को उसका पुत्र (लड़का) दे दिया।[2]

---

१. **निशीथचूर्णी** २०, पृ० ३०५.

२. **दशवैकालिक चूर्णी** : जिनदासगणि, रतलाम : अगस्त्यसिंह, प्राकृत टैक्स्ट सोसायटी १९३३, पृ० १०४.

आवश्यक चूर्णी में उल्लेख मिलता है कि एक बार दो सेठों की कन्यायें स्नान करने गई हुई थी। उनमें से एक कन्या दूसरी कन्या के कीमती आभूषण लेकर चम्पत (भाग) हो गई। मामला राजदरबार में पहुंचा लेकिन कोई गवाह तैयार नहीं हुआ। अंत में दास चेटियों को बुलाकर मुकदमे का फैसला दिया गया।[1] इस वाक्य से तथा इस उदाहरण से यह ज्ञात होता है कि मुकदमा का फैसला दासचेटियों की सहायता से भी होता था।

कभी-कभी साधारण सी बात पर भी झगड़ा हो जाता था, और लोग मुकदमा लेकर राजकुल में उपस्थित हो जाते। एक बार करकडु और किसी ब्राह्मण में एक बांस के डंडे के ऊपर झगड़ा हो गया। दोनों कारणिक (न्यायाधीश) के पास गये। बांस करकंडु के स्मशानमें उगा था, इसलिए वह उसी को ही दे दिया गया।[2]

प्राचीन जैन ग्रंथों के अनुसार कभी-कभी जैन श्रमणों को भी राजकुल में उपस्थित होना पड़ता था। आवश्यक चूर्णी में उल्लेख है कि जब वज्रस्वामी छः महीने के ही थे तभी जैन श्रमण उन्हें दीक्षा देने के लिए ले गये। वज्रस्वामी की माता सुनन्दा ने जैन श्रमणों के विरुद्ध राजकुल में मुकदमा कर दिया। जैन श्रमणों को इस समय राजकुल में उपस्थित होना पड़ा। न्याय करते समय राजा पूर्व दिशा में, जैन संघ के सदस्य दक्षिण दिशा में तथा वज्रस्वामी के सगे सम्बन्धी राजा की बायीं ओर बैठे। उस समय सारा नगर सुनंदा की तरफ था। सुनन्दा ने खिलौने आदि दिखलाकर वज्रस्वामी को अपनी ओर आकर्षित करना चाहा, लेकिन फिर भी बालक उसके पास नहीं आया। इसके पश्चात् जैन श्रमणों की बारी आई। इस समय पहले से ही श्रमण धर्म में दीक्षित वज्रस्वामी के पिता ने—जो कि जैन श्रमणों की ओर से मुकदमे की पैरवी कर रहे थे, बालक को बुलाया और रजोहरण लेने को कहा। बालक ने अपने पिता

---

१. आ० चू० पृ ११६.

२. उत्तराध्ययन टीका ६.

की आज्ञा का पालन किया। यह देखकर राजा ने वज्रस्वामी को उसके पिता के सुपुर्द कर दिया।[1]

उपर्युक्त उदाहरणों से ज्ञात होता है कि जैन मान्यतानुसार प्राचीन समय में न्यायाधीश बहुत चतुर और होशियार होते थे। निर्णय करने से पूर्व मुकदमे के विषय में सारी जांच पड़ताल कर लेते थे पश्चात् अपना निर्णय सुनाते थे। इसके अलावा जैन ग्रन्थों के अनुसार जैन श्रमणों को भी न्यायालय अथवा राजकुल में हाज़िर (उपस्थित) होना पड़ता था।

१. आ० चू० पृ० ३९१ इत्यादि।

सप्तम अध्याय

नगरादि व्यवस्था

(क) नगर-विन्यास :—

जैन मान्यतानुसार राज्य की बाह्य आक्रमणों से रक्षा करने के लिए नगर निर्माण बहुत सावधानीपूर्वक किया जाता था। इसके अलावा सुन्दरता की दृष्टि से भी नगर की रचना चातुर्यता से की जाती थी। जैन पुराणों के अनुसार नगर पूर्व और पश्चिम में नव योजन चौड़े और दक्षिण से उत्तर में बारह योजन लम्बे होते थे। नगर का मुख पूर्व दिशा में होता था। नगरियों में सौ (१००) चौक (चतुष्क), १२,००० गलियां होती थीं। इसके अलावा नगर में छोटे-बड़े १,००० दरवाजे, ५०० किवाड़ वाले दरवाजे, एवं २०० सुन्दर दरवाजे होते थे। पद्मम पुराण में उल्लेख मिलता है कि उस समय नगर चूने से पुते हुये सफेद महलों की पंक्ति के समान जान पड़ते थे।[1]

जैन पुराणों में नगरों की समृद्धि का वर्णन भी उपलब्ध है। पद्म पुराण के अनुसार भारत में राज्य देवलोक के समान उत्कृष्ट सम्पदाओं से युक्त थे।[2] विजयार्द्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी की नगरियां एक से एक बढ़कर नाना प्रकार के देशों एवं ग्रामों से व्याप्त, मटम्बों से संकीर्ण, तथा खेट और कर्वट के विस्तार से युक्त होती थी। वहाँ की भूमि भोग भूमि के समान थी। झरने सदा मधु, दूध, घी आदि रसों को बहाते थे। अनाजों की राशियां पर्वतों समान थीं। अनाज की खत्तियों का कभी क्षय नहीं होता था। वाटिकाओं एवं बगीचों की आवृत महक चारों तरफ फैलती

---

१. सुधारससमासङ्ग पाण्डुरागारपङ्क्ति भिः; पद्म पु० २/३७.

२. पद्म पु० ४/७६.

थी । मार्ग धूली तथा कण्टकों से रहित अर्थात् साफ, चलने में सुखदायी होते थे । प्याऊ बड़े-बड़े वृक्षों की छाया से युक्त तथा रसों से पूर्ण होती थी ।[1] इसके अलावा नगरी धूली के ढेर और कोट की दीवारों से दुर्लंघ्य नगर दरवाजों, अट्टालिकाओं की पंक्तियों तथा बन्दरों के शिर जैसे आकार वाले बुर्जों से बहुत ही अधिक सुशोभित होते थे ।[2] उक्त उल्लेख से प्राप्त होता है कि वास्तव में नगरों की रचना बहुत ही सुन्दर ढंग से की जाती थी ।

महापुराण में पुरनिर्माण के सात अवयव वर्णित हैं ।[3]

(१) वप्र, (२) प्राकार, (३) परिरवा, (४) अटारी, (५) द्वार, (६) गली और (७) मार्ग ।

नगर के चारों ओर विशाल कोट का निर्माण किया जाता था । कोट के चारों ओर गहरी परिरवा होती थी, जो कि बहुत गहरी होती थी । नगर ऊँचे-ऊँचे गोपुरों से युक्त होते थे । बड़ी-बड़ी वापिकाओं से नगर को अलंकृत किया जाता था ।[4] नगर में सभी प्रकार के लोग रहते थे ।[5] महापुरण में उल्लिखित है कि प्रत्येक नगर के मध्य में चतुष्क (चौराहा) बनाया जाता था । यह चौराहे नगर के सभी स्थानों से मिलते थे ।[6] इसके अलावा महापुराण में यह भी वर्णित है कि नगर में प्रतौली[7] और रथ्या[8] होते थे । प्रतौली रथ्या से चौड़ी गली होती थी । प्रतौली नगर के मुख्य बाजारों एवं मुहल्लों की ओर जाती थी, तथा रथ्या सीमित मुहल्ले तक ही जाती थी ।

---

१. देशग्राम समाकीर्णं मटम्बाकार संकुलम् ।
महातरुकृतच्छायाः प्रथाः सर्वसमान्विता ।। पद्म पु० ३/३१५-३२५.

२. विभाति गोपुरोपेतद्वारट्टालकपङ्क्तिभिः ।
वप्रप्राकारदुर्लंघ्यं मुरजैः कपिशीर्षकैः ।। महा पु० ६३/३६५.

३. महा० पु० १९/५४-७३.

४. पद्म पु० २/४६.

५. पद्म पु० २/३६-४५.

६. महा० पु० २६/३.

७. वही ४३/२०४.

८. वही २६/३.

१. दुर्ग :—

प्राचीन भारत में दुर्गों का अत्यधिक महत्त्व था। उस समय सीमा विस्तार की भावना से एक राजा दूसरे राजा के राज्य पर आक्रमण करते ही रहते थे। इसलिए राज्यों की सुदृढ़ता एवं राज्यों की सुरक्षा के लिए दुर्ग महत्त्वपूर्ण समझे जाते थे। दुर्ग राज्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग भी स्वीकार किया गया है। आचार्य कौटिल्य ने दुर्ग को राज्य के प्रमुख सप्तांगों में से एक माना है जिसे कोष, मित्र और सेना से अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता था।[1] जिस देश में जितने अधिक दुर्ग होते थे वह उतदा ही अधिक शक्तिशाली समझा जाता था। जन-धन की सुरक्षा की दृष्टि से तथा युद्ध में सहायक होने के कारण दुर्गों का महत्त्व इस देश में बहुत समय तक रहा।

सारांश में हम यह कह सकते हैं कि राजा अपने राज्य में अनेक ऐसे विकट स्थान—दुर्ग, खाई आदि का निर्माण करवाते थे, क्योंकि जब शत्रु देश पर आक्रमण करता था उस समय वह इन विकट स्थानों से दुःखी हो जाता था जिसके कारण आक्रमण सफल नहीं हो सकते थे। शुक्राचार्य ने दुर्ग की परिभाषा करते हुए लिखा है कि जिसको प्राप्त करने में शत्रु को भी भीषण कष्ट सहन करना पड़े और जो संकट काल में अपने स्वामी की रक्षा करता है, उसे दुर्ग कहते हैं।[2]

दुर्ग युद्ध समय में रक्षण करते तथा शान्ति समय में शोभाप्रद होते थे।[3] दुर्गों की रचना, भूमि, आर्थिक साधन तथा शत्रु-आक्रमण की दिशा आदि को दृष्टि में रखकर की जाती थी। उस समय प्रत्येक राज्य की राजधानी व प्रत्येक नगर सुरक्षात्मक, दुर्ग एवं परिरवा आदि से घिरा रहता था। दुर्ग के सबसे बड़े अधिकारी को कोट्टपाल कहा जाता था।[4]

---

१. अर्थशास्त्र ६, १. पृ० ४१५-४१७.

२. शुक्र :—यस्य दुर्गस्य संप्राप्तेः शत्रवो दुःखमाप्नुयुः।
स्वामिनं रक्षयत्येव व्यसने दुर्गमेष तत्॥ नीतिवाक्यामृतम्। २०/१, पृ० १९८.

३. दुर्गविधान पृ० १.

४. समराइच्चकहाः एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० ७८. अल्लेकर, प्राचीन भारतीय शासनपद्धति पृ० १०५.

पद्‌म पुराण के अनुसार शत्रु के द्वारा आक्रान्त होने पर राजा लोग दुर्ग में आकर शरण लेते थे।[1] इसके अलावा शत्रु पर आक्रमण करने के लिए भी दुर्ग में आश्रय लेना पड़ता था।[2] महापुराण के अनुसार दुर्गों के अन्दर यथास्थान मन्त्र, शस्त्र, जल, घोड़े, जो तथा रक्षकों के रहने का उल्लेख मिलता है।[3] पद्‌म पुराण में दुर्गम दुर्ग का उल्लेख हुआ है।[4] जैनेत्तर साहित्य में दुर्गों के प्रकार का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। कौटिल्य ने चार प्रकार के दुर्गों का वर्णन किया है। (१) औदक (जल), (२) पर्वत (पहाड़ी), (३) धन्वन तथा (४) वन।[5]

१. **औदक** :—

चारों ओर नदियों से घिरा हुआ बीच से टापू के समान, अथवा बड़े-बड़े गहरे तालाबों से घिरा हुआ मध्यस्थल प्रदेश, यह दो प्रकार का औदक दुर्ग कहलाता है।

२. **पर्वत** :—

बड़े-बड़े पत्थरों से घिरा हुआ अथवा स्वाभाविक गुफाओं के रूप में बना हुआ पर्वत दुर्ग कहलाता था।

३. **धान्वन** :—

जल तथा घास आदि से रहित अर्थात् सर्वथा ऊसर में बना हुआ धन्वन दुर्ग कहलाता था।

४. **वनदुर्ग** :—

चारों ओर दलदल अथवा काँटेदार झाड़ियों से घिरा हुआ वनदुर्ग कहलाता था।

---

१. पद्‌म पु० ४३/२८.
२. पद्‌म पु० २६/४०.
३. महा पु० ५४/२४.
४. पद्‌म पु० २६/४७.
५. **कौटिल्य अर्थशास्त्र** २/३. पृ० ७७

अन्य शास्त्रकारों ने छः प्रकार के दुर्ग बताये हैं। धन्व, मही, वार्क्ष, जल, नृ तथा गिरि।[1]

शुक्राचार्य ने नौ प्रकार के दुर्ग बताये हैं। ऐरिण, परिखा, पारिष, वन, धन्व, जल, गिरि, सैन्य तथा सहाय।[2] समराङ्गण सूत्रधार में दुर्ग विधान की विवेचना की गई है। इसमें विजयार्थी राजाओं के लिए छः प्रकार (जल, पंक, वन, ऐरिण, पर्वतीय तथा गुहा) के दुर्गों की आवश्यकता पर बल दिया गया है।[3]

जैन पुराणों में दुर्गों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। शान्ति एवं युद्ध काल में इनका बहुविध प्रयोग किया जाता था। राजा के लिए दुर्ग का होना उसकी शक्ति का द्योतक होता था।

रामायण में चार प्रकार के दुर्गों का उल्लेख है :—

१. नदी, २. पर्वत, ३. वन और ४. कृत्रिम।[4]

(II) **राजधानी** :—

राजधानी उसे कहते हैं जहां पर कि राज-व्यवस्था से सम्बंध रखने वाला राजा तथा अन्य राजकर्मचारी निवास करते हों। जैनमान्यतानुसार भी राजधानी उस नगर को कहा गया है जहां पर राजा रहता था। जैन ग्रंथों के अनुसार इन्द्र ने सर्वप्रथम विनीता नाम की राजधानी स्थापित की थी, जिसका कि दूसरा नाम अयोध्या भी कहा जाता था। अर्थशास्त्र में राजधानी को स्थानीय कहा गया है। राजधानी में ८०० ग्राम होते थे।[5] प्राचीन ग्रंथों में राजधानी के लक्षणों का निरूपण करते हुये वर्णित है कि

---

१. महाभारत शान्तिपर्व ५६/३५, ८६/४-५, मनु० ७/७०, मत्स्य पु० २/७/६-७, अग्नि पु० २२२/४-५.

२. शुक्र० ४/६-७ पृ० ३६२.

३. द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल—समराङ्गणीय, दिल्ली : वास्तुशास्त्रीय भवन निवेश १९६४, पृ० ४१

४. **रामायण : युद्ध काण्ड ३/२१**

५. **अर्थशास्त्र** २/३. पृ० ७७.

राजधानी में चतुर्दिक परिखा, प्राकार एवं नगर द्वारों का होना आवश्यक था तथा इसके अन्दर चौड़े राजमार्ग, सुन्दर भवनों, उपवनों एवं सरोवरों का निर्माण किया जाता था। इसके अतिरिक्त राजधानी के नगर द्वार पर सैनिक शिविर, उन्नत गोपुर, शालाओं एवं विशाल भवनों का निर्माण किया जाता था।[1]

डॉ० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल के मतानुसार जिस नगर में राजा रहता था उसे राजधानी कहते हैं, और अन्य नगर शाखा नगर की संख्या में आते थे।[2] वर्तमान समय में भी इसी प्रकार की व्यवस्था है। जहाँ पर प्रधानमंत्री रहता है उसे राजधानी तथा अन्य शाखा नगर की संज्ञा में ही आते हैं। राजधानी के सम्बन्ध में शुक्राचार्य का मत है कि—"उस सुरम्य एवं समतल भूभाग पर राजधानी या नगर का निर्माण करना चाहिए, जो विविध प्रकार के वृक्षों, लताओं, एवं पौधों से आवृत्त हो, जहाँ पर पशुपक्षी एवं जीव-जन्तुओं की सम्पन्नता हो, भोजन एवं जल की सुप्राप्ति हो सके। बाग, बगीचे, हरियाली, प्राकृतिक सोन्दर्य दर्शनीय हो, समुद्र तट पर गमनशील नौकाओं के यातायात को दृष्टिगत किया जा सके और वह स्थान पर्वत के समीप हो।[3]

महापुराण के अनुसार कोट, प्रकार, परिखा, गोपुर और अटारी आदि से सुशोभित राजधानियाँ होती थीं।[4] जैन पुराणों में राजधानियों नगरों का वही आदर्श उपलब्ध है जैसा कि शुक्रनीति में वर्णित है। पद्म पुराण में उल्लिखित है कि उक्त राजधानियों में बिना परिश्रम के अन्न, जल, औषधि मिलते थे। खत्तियाँ अनाज से परिपूर्ण थीं। जिनका कभी क्षय नहीं होता था। मार्ग धूली एवं कण्टक रहित थे। ऋतुयें आनन्दप्रद थीं। वर्षा आवश्यकतानुसार होती थी।[5] राजधानी में ८०० ग्राम होने का उल्लेख मिलता है।[6]

---

१. शुक्रनीतिसार १/२१३-२१७ पृ० ४१.

२. द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल : समराङ्गणीय पृ० ९९.

३. शुक्रनीति-सारः १/२१३-२१७ पृ ४१.

४. मध्ये जनपदं रेणू राजधन्याः परिष्कृताः ।
वप्रप्राकार परिखागोपुराट्टालकादिभिः ।। महा० पु० १६/१६२,

५. पद्म पु० ३/३१६-३३६

६. महा० पु० १६/१७५

(III) सड़क निर्माण :—

नगरों में सड़क या मार्ग निर्माण कराना परम कुशलता का द्योतक है। जैन पुराण में मार्ग के लिए राजमार्ग, प्रतोली और रथ्या शब्द वर्णित हैं। राजमार्ग सीधे होते थे।[1] पद्म पुराण में वर्णित है कि नगर में गलियाँ इतनी संकरी होती थीं कि सामने वेग से आ रहे व्यक्ति की टक्कर से रास्ते में खड़े हुए व्यक्ति के हाथ से बर्तन गिर जाता था।[2] राजमार्ग नगर के मध्य से आता था। समराङ्गण सूत्रधार में राजमार्ग की चौड़ाई का माप जेष्ठ, मध्य और कनिष्क तीन प्रकार के नगरों में बांट दिया गया है। जो प्रायः २४", २०" और १६" (३६ फुट, ३० फुट और २४ फुट) होना चाहिए। इनकी चौड़ाई का विस्तार लगभग इतना होना चाहिए कि चतुरंगिणी सेना, राजसी जुलूस एवं नागरिकों के चलने में किसी भी प्रकार की रुकावट नहीं पड़नी चाहिए। यह राजमार्ग पक्का बनाना चाहिए। शुक्राचार्य के अनुसार उत्तम, मध्यम एवं कनिष्ट प्रकार के नगरों के राजमार्ग की चौड़ाई ४५ फुट, ३० फुट एवं ३२ फुट होनी चाहिए। पद्म पुराण में वर्णित है कि जहाँ पर दो मार्ग एक दूसरे को समकोण पर काटें उस स्थान को चौराहा (चत्वर) कहा गया है, और जब एक मार्ग के बीच से कोई मार्ग निकलता हो तो उस स्थान को तिराहा (त्रिक) कहा गया है। विशेष अवसरों पर इन तिराहों एवं चौराहों सहित राजामर्ग को सुसज्जित किया जाता था।[3]

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि प्राचीन समय में नगर-निर्माण करते समय सड़कों का निर्माण भी कुशलतापूर्वक किया जाता था। जो कि नगर की सौन्दर्यता एवं रक्षा का प्रतीक होता था।

(ल) सुरक्षा व्यवस्था :—

नगर विन्यास में सुरक्षा-व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण स्थान था। प्राचीन काल में नगरों की रचना सुरक्षा को दृष्टिगत रखकर के ही की जाती थी। उस समय सुरक्षा के दो साधन थे। १. प्राकृतिक और २. कृत्रिम।

---

१. पद्म पु० ६/१२१-१२२, महा० पु० ४३/२०८, २६/३.

२. वेगिभिः पुरुषैः·········जना भाजनपाणयः॥ पद्म पु० १२०/२७,

३. पद्म पुराण ९६/१२-१३

अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि नदी, जल, पर्वत, पत्थर-समूह, मरुस्थल तथा जंगल प्राकृतिक साधन थे ।[1] समराङ्गणसूत्रधार में नगरों की रक्षार्थ पांच प्रकार के कृत्रिम साधन वर्णित हैं । १. परिखा, २. वप्र, ३. प्राकार, ४. द्वार एवं गोपुर, ५. अट्टालक, ६. रथ्या ।[2]

जैन पुराणों में भी इनका उल्लेख हुआ है ।

(I) **परिखा** :—

आक्रामक शत्रु से बचने के लिए परिखा का निर्माण किया जाता था। भारत के सभी प्रसिद्ध नगरों में दुर्गों के चतुर्दिक परिखा के विद्यमान होने की सूचना मिलती है । नगर की चाहरदीवारी के बाहर उसी से लगी हुई, पानी और जलचर जीवों से युक्त परिखा (खाई) होती थी । खाई इतनी गहरी और चौड़ी होती थी कि आक्रमण के समय शत्रु के लिए वह बाधक सिद्ध होती। राजगृह नगर की परिखा उसे समुद्र के समान घेरे हुई थी ।[3] नगरों के अतिरिक्त मंदिरों के चारों ओर की सुरक्षा की दृष्टि से परिखाओं की व्यवस्था की गई थी ।[4] महापुराण के अनुसार तीन प्रकार की परिखाओं का उल्लेख है। १. जल, २. पंक तथा ३. रिक्त परिखायें होती थीं ।[5]

जैनेत्तर ग्रन्थ अर्थशास्त्र में भी तीन प्रकार की परिखाओं जल-परिखा, पंक-परीक्षा तथा रिक्तपरिखा का उल्लेख है ।[6] परिखाओं की मज़बूती के लिए परिखा के अन्दर और नीचे ईंटों या पत्थरों की चिनाई की जाती थी। मेगस्थनीज़ के अनुसार पाटलि की परिखा ६०० फुट चौड़ी थी। जैनेत्तर ग्रन्थ अर्थशास्त्र में पहली परिखा १४ दण्ड, दूसरी

---

१. अर्थशास्त्र—२/३ पृ ७७
२. जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन पृ० ३२३.
३. पद्म पुराण २/४९.
४. पद्म पु० ४०/२९.
५. महा पु० १९/५३.
६. अर्थशास्त्र—२/३, पृ० ७७

परीखा १२ दण्ड और तीसरी परिखा १० दण्ड विस्तीर्ण की। परिखा की गहराई चौड़ाई से कम होती थी। इनकी गहराई सामान्यतः १५ फुट होती थी। इनकी गहराई नापने के लिए पुरुष का प्रयोग किया जाता था। परिखा के जल में कभी-कभी भयंकर जलजीवों को भी छोड़ दिया जाता था जिससे कि शत्रु परिखा को पार न कर सके। इसके अलावा परिखा की सुन्दरता के लिए इसके जल में कमल, कुमुद आदि जलपुष्प और हंस, कारण्डव आदि पक्षियों का उल्लेख मिलता है। कभी-कभी परिखाओं में नालों की गन्दगी भी गिराई जाती थी। जैन महापुराण में भी उक्त उल्लेख मिलता है।[1]

(II) वप्र (कोट) :—

परिखा के निर्माण के बाद वप्र का निर्माण किया जाता था। महापुराण में वप्र के निर्माण का बहुत सुन्दर ढंग से वर्णन किया गया है। परिखा खोदते समय जो मिट्टी निकलती थी, उसी के द्वारा वप्र का निर्माण किया जाता था। वप्र-भित्ति का निर्माण परिखा से ४ दण्ड (२४ फुट) दूरी पर किया जाता था। मिट्टी को चौकोर बनाकर हाथियों और बैलों द्वारा कुचलवाया जाता था। बन जाने के पश्चात् वप्र के ऊपर कंटीली और विषैली झाड़ियां उगाई जाती थीं, जिसके कारण शत्रु प्रवेश नहीं पा सकता था। इस प्रकार तैयार हुआ वप्र ६ धनुष (३६ फुट) ऊंचा तथा १२ धनुष (७२ फुट) चौड़ा होता था। इसके अलावा कोट के ऊपर के भाग पर कंगूरे बनाये जाते थे, जो कि गाय के खुर के समान गोल तथा घड़े के उदर के समान बाहर की ओर उठे हुए आकार के होते थे।[2] इसी प्रकार का वर्णन जैनेत्तर पुराण तथा ग्रन्थों में भी मिलता है।[3]

(III) प्राकार :—

वप्र के ऊपर परकोटे अर्थात् प्राकार का निर्माण ईटों से किया जाता था। रामायण में परकोटे को दुर्ग तथा नगर की सुरक्षा का अभिन्न साधन

---

१. महा० पु० ४/१०८, १४/६६, १९/५३-५७.

२. चतुर्दण्डान्तरश्चातो वप्रः षड्धनुरुच्छितः।
कुम्भकुक्षिसमाकारं गोक्षुरक्षोदनिस्तलम्॥ महा पु० १९/५८-५९.

३. समराइ० गणसूत्रधार पृ० ४०.

समझा जाता था।[१] प्रकार तीन प्रकार के होते थे। (१) प्रांस प्राकार या मृद्र दुर्ग (धूलकोट), (२) इष्टका प्राकार (ऐष्टक प्राकार) और, (३) प्रस्तर प्राकर।[२] प्राकार की ऊँचाई वप्र के विस्तार से दूनी होती थी। यह १२ धनुष चौड़ा तथा २४ धनुष ऊँचा होता था। इसके अग्रभाग में मृदंग और बन्दर के आकार के कंगूरे बने होते थे। इसका निर्माण मिट्टी तथा पत्थरों से होता था। ईंटों की अपेक्षा पत्थरों का प्राकार प्रशस्त एवं मज़बूत माना जाता था।[३]

पद्म पुराण में लंका के प्राकार को महा प्राकार की संज्ञा दी है।[४] महापुराण में वर्णित है कि प्राकर पर चढ़कर शत्रु एवं नगर की देखभाल की जाती थी।[५] इसी पुराण में वर्णित है कि उस समय मायामय कोठों के वर्णन का उद्धरण मिला है जो कि दुष्प्रवेश एवं दुर्गम्य होते ये। उसके पास जाने के पश्चात् मनुष्य वापस नहीं लौटता था।[६] प्राकार की ऊंचाई बहुत अधिक होती थी। वे गोपुर खरवाजों से युक्त दुनिरीक्ष्य, विस्तीर्ण एवं हिंसामय थी।[७] नगर को घेरने के लिए प्राकार का निर्माण किया जाता था।[८]

जैनेत्तर ग्रंथ अर्थशास्त्र में उल्लिखित है कि प्राकार की नींव इतनी विशाल होती थी कि उसमें रथी-रथ पर बैठकर यातायात कर सकता था।[९] नगर के प्राकार या परकोटे में मजबूत किवाड़ लगे रहते थे। आचार्य कौटिल्य का कहना है कि "प्राकार" के बाहर की भूमि में शत्रु को आने

---

१. रामायण कालीन युद्ध कला पृ० १६६.
२. जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन पृ० ३२५.
३. वप्रस्योपरि......रत्नशिलामयः महा पु० १६/६०-६१.
४. पद्म पु० ५/१७५
५. वही ४६/२१५
६. पद्म पु० ५२/७-१४
७. वही ३/३१६
८. महा पु० ५४/३५
९. अर्थशास्त्र अधिकरण २, अध्याय ३, पृ० ७८.

से रोकने के लिए गहरे गड्ढे बनाये जायँ, लताजाल एवं कंटीली झाड़ियों का आरोपण किया जाय ।[1]

(IV) अट्टालक :—

जैन पुराणों में विशाल अट्टालकों का उल्लेख है ।[2] प्राकारों में बुर्जों का निर्माण होता था । इन्हें "अट्टालक" कहा गया है । प्रत्येक दिशा के नगर-प्रकार में बुर्ज बनाये जाते थे। इसके बीच की दूरी अधिक होती थी । आचार्य कौटिल्य के अनुसार दो अट्टालकों के बीच की दूरी ३० दण्ड (१२० हाथ) की होती थी ।[3] महापुराण में वर्णित है कि अट्टालिकाओं १५ धनुष लम्बी तथा ३० धनुष ऊंची होती थीं, और ३०-३० धनुष के अन्तर से बनी होती थी । यह बहुत चित्रविचित्र ढंग से चित्रित एवं इसमें ऊपर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ बनी होती थीं । ये बहुत ऊंची होती थी, मानो आकाश को छू रही हो ।[4] बुर्ज की चोटी पर सैनिक नियुक्त किये जाते थे जिनका कार्य आक्रामक शत्रु को देखना तथा उनका संहार करना था ।[5]

(V) गोपुर :—

जैन पुराणों में अनेक गोपुरों का वर्णन मिलता है ।[6] पद्म पुराण के अनुसार उस समय कपड़ों के डेरों में भी गोपुरें बनाई जाती थीं, और उनके दरवाजे पर योद्धा तैनात रहते थे[7] । जैन पुराणों में वर्णित है कि कोट के चारों ओर (चारों दिशा में) एक-एक गोपुर होते थे ।[8] अट्टालिकाओं के बीच में एक-एक गोपुर बना होता था । उस पर रत्नों के तोरण लगे हुये

---

१. अर्थशास्त्र अधिकरण २, अध्याय ३, पृ० ७८.
२. हरिवंश पुराण ५/२६४, महा० पु० १९/६२.
३. कौटिल्य अर्थशास्त्र २/३ पृ० ७९.
४. त्रिशदर्ध व दण्डानां···गगनस्पृशः । महा पु० १९/६२-६३.
५. रामायण कालीन युद्धकला पृ० १९६.
६. पद्म पु० ३/३१६, ५/१७५, महा पु० ६२/२८, हरिवंश पु० २/६५.
७. पद्म पु० ६३/२८-३४.
८. हरिवंश पु० २/६५, महा पु० ६२/२८.

रहते थे। ये गोपुर ५० धनुष ऊँचे और २५ धनुष चौड़े होते थे।[1] महापुराण के अनुसार प्रत्येक गोपुर द्वार पर पंखा, छत्र, चामर, ध्वजा, दर्पण सुप्रतिष्ठक (ढोना) मृङ्गार और कलश ये आठ-आठ मंगल द्रव्य रखे जाते थे। गोपुर के द्वार पर पहरेदार पहरा देते थे।[2]

(१) **प्रतोली :—**

अर्थशास्त्र में वर्णित है कि प्राकार में चार प्रधान द्वारों के अतिरिक्त गौण द्वार भी होते थे। इन्हें प्रातोली कहा गया है। प्रधान नगर द्वार (गोपुर) की चौड़ाई से प्रतोली की छः गुनी होनी चाहिए। नगर द्वार के ऊपर बुर्ज बनाया जाता था, जो कि आकार में घड़ियाल के मुख के यमान होता था।[3] महापुराण में प्रतोली का रथ्या से चौड़ी गली के रूप में चित्रण मिलता है।

इस प्रकार नगरादि-व्यवस्था के अन्तर्गत नगर-विन्यास तथा नगर की सुरक्षा-व्यवस्था का वर्णन जैन पुराणों में मिलता है।[4]

---

१. द्वयोरट्टालयोर्मध्ये गोपुरं रत्नतोरणम् ।
पञ्चाशब्दनुरुत्सेधं तदर्धंतपि विस्तृतम् ।। महा पु० १९/६४.

२. महा पु० २२/२७५-२७६.

३. अर्थशास्त्र २/३, पृ० ८०.

४. महा पु० ४३/२०८.

अष्टम अध्याय

"अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध"

भारतवर्ष में ऐसा समय कभी नहीं आया जबकि सम्पूर्ण देश का शासन एक ही राजा के अधीन दीर्घकाल तक रहा हो। यद्यपि अशोक जैसे महान पराक्रमी शासन हुए, परन्तु उनका भी साम्राज्य स्थायी रूप धारण नहीं कर सका। इसका मूल कारण यातायात की असुविधाएँ थीं। इन असुविधाओं के कारण ही राजा सुदूर प्रान्तों पर यथोचित नियंत्रण नहीं रख सकते थे। इसका तात्पर्य यह हुआ कि ज्यों ही केन्द्रीय शक्ति का ह्रास होता गया, वे सुदूरवर्ती प्रान्त केन्द्रीय नियंत्रण से स्वतंत्र होते गये, और एक स्वतंत्र राज्य का रूप धारण करते गये। केन्द्रीय सत्ता की शिथिलता का दूसरा कारण विजेताओं की परम्परागत नीति भी थी।

जैन मान्यतानुसार प्राचीन काल से ही शक्तिशाली एवं महत्वाकाँक्षी राजाओं का आदर्श चक्रवर्ती राजा बनने का रहा है। चक्रवर्ती अर्थात् सार्वभौम शासक वह होता है जो समस्त देश (छः खण्ड) पर शासन करता है। आचार्य कौटिल्य ने चक्रवर्ती राजा की परिभाषा देते हुए लिखा है कि चक्रवर्ती वह है जिसकी सीमा का विस्तार हिमालय से लेकर दक्षिण समुद्र तक का उत्तरी क्षेत्र एवं पूर्व पश्चिम एक हजार योजन व्याप्त है।[1] इस आदर्श का परिणाम यह होता था कि देश में निरन्तर युद्ध होता रहता था, क्योंकि प्रत्येक शासक चक्रवती बनने का प्रयास करता रहता था।

तत्कालीन भारत का अन्य देशों से भी सम्बन्ध रहा। यहां तक कि उत्तर वैदिक काल में ही भारत का मिस्र, सीरिया, ईरान, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, सिंगापुर, मारीशस तथा लंका आदि देशों से सम्बन्ध

---

१. कौटिल्य अर्थशास्त्र ९/१, पृ० ५५६.

स्थापित हो चुका था। रामायण तथा पुराणों के रचना काल से पूर्व वैदिक काल में भी प्राचीन भारतीयों का प्रभाव पश्चिमी एशिया में भी था। इसकी पुष्टि मैसोपोटामिया में प्राप्त हुए बेगाजक्काई के उत्कीर्ण लेखों से होती है, जिनमें वैदिक देवताओं के नाम खुदे हुए हैं। इससे स्पष्ट होता है कि ईसा से लगभग १७०० वर्ष पूर्व भारतीय आर्य और उनका वैदिक धर्म वहाँ तक पहुंच चुके थे।[1]

रामायण में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की झलक कुछ प्रसंगों से होती है। अयोध्या नृपति दशरथ ने राम को युवराज पद अभिषिक्त करने के लिए अनेक नगरों और राष्ट्रों के रहने वाले प्रधान राजाओं को बुलाया था।[2] यह घटना एक प्रकार की राजस्वकृति प्राप्त करने की टेकनिक थी। या तो अवैधानिक रूप से राजनैतिक स्वीकार क्रिया द्वारा नया शासक को आन्तरराज्य व्यवस्था में सादर करने की परम्परा थी।

जैन मान्यतानुसार भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर बल दिया गया है। जैसा कि "त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित" में उल्लिखित है कि आर्द्रक नाम का एक नगर था। उसमें आर्द्रक नाम का राजा राज्य करता था। उस राजा के आर्द्रकुमार नाम का पुत्र था। आर्द्रक राजा और श्रेणिक राजा के परम्परागत मित्रता थी। एक बार स्नेह से श्रेणिक राजा ने अपने मंत्री को भेंट लेकर आर्द्रक राजा के पास भेजा। आर्द्रक राजा ने श्रेणिक राजा का पत्र तथा भेंट को बहुत ही हर्ष के साथ स्वीकार किया और श्रेणिक की कुशलता पूछी। मंत्री ने स्वामी का कुशल वृतान्त कहा इससे आर्द्रक राजा का मन बहुत ही प्रसन्न हुआ। यह सब वृतान्त आर्द्रकुमार देख रहा था। उसने अपने पिता से पूछा, "पिताजी। यह मगधेश्वर कौन है ? जिसके साथ आपकी इतनी प्रीति है। आर्द्रक राजा ने कहा, हे वत्स। श्रेणिक नाम का मगध देश का राजा है। उसके साथ

---

१. राजबली पाण्डेय : प्राचीन भारत, वाराणसी : नन्दकिशोर एण्ड सन्स, १९६२, पृ० ३८५.

२. नाना नगरवास्तव्यान्पृथग्जानपदानपि।
समानिनाय मेदिन्याः प्रधानान्पृथिवीपतीन्॥ रामायण अयोध्या काण्ड १/४६.

हमारे कुल की परम्परा से प्रीति चली आ रही है। यह सुनकर आर्द्रकुमार बहुत प्रसन्न हुआ और मंत्री से बोला, हे मंत्री! आपके स्वामी के कोई सम्पूर्ण गुणवाला पुत्र है? उसको प्रीति का पात्र बनाकर मित्रता की इच्छा करता हूँ। मंत्री बोला, हे कुमार! बुद्धि का धाम, पांच सौ मंत्रियों का स्वामी, सर्व कलाओं में पारंगत अभय कुमार नाम का एक पुत्र है। आर्द्रक राजा अपने पुत्र को अभयकुमार के साथ मैत्री करने का अर्थ समझकर कहने लगे "हे वत्स। तू वास्तव में कुलीन पुत्र है, जो कि परम्परागत चले आ रहे मार्ग का अनुकरण कर रहा है। अपने मनोरथ को सफल हुआ जान, राजा की आज्ञा मिलने से आर्द्रकुमार ने मंत्री को कहा कि, "आप जाओ तब मुझसे मिलकर जाना।"

जब मंत्री जाने के लिए तत्पर हुआ तब आर्द्रक राजा ने मोती वगैरह की भेंट लेकर एक आदमी के साथ मंत्री को रवाना (विदा) किया। उस समय आर्द्रकुमार ने भी अभयकुमार को अपना संदेश तथा मुक्ता, फलादि मंत्री के हाथ में दिये। मंत्री आर्द्रक राजा के आदमी सहित राजगृह आया। और श्रेणिक राजा तथा अभयकुमार को भेंट दी, और अभयकुमार को आर्द्रकुमार का संदेश कहा कि आपके साथ मित्रता करना चाहता है। सभी भेंट स्वीकार कर लेने के पश्चात् मगधपति श्रेणिक ने आर्द्रक राजा के मंत्री को बहुत सारी भेंट देकर विदा किया। उस समय अभयकुमार ने भी उसके साथ में एक पेटी दी जिसमें भगवान आदिनाथ की प्रतिमा थी। साथ में यह भी कहा कि, "हे भद्र। वह पेटी आर्द्रकुमार के हाथ में ही देना, और मेरा यह संदेश उसको कहना कि यह पेटी एकान्त में जाकर अकेला ही खोले और इसमें जो वस्तु है उसे किसी को दिखाये नहीं। इस प्रकार सारी बातें स्वीकार कर वह पुरुष अपने नगर को रवाना हुआ। नगर में आते ही साथ में लाई हुई भेंट अपने स्वामी को तथा आर्द्रकुमार को दे दी, साथ में अभयकुमार का संदेश एकान्त में जाकर आर्द्रकुमार को कहा।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि जैन मान्यतानुसार प्राचीन समय से ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की शृंखला चली आ रही है। जिस राजा का सम्बन्ध एक बार दूसरे देश के राजा से हो जाता था, वह फिर परम्परागत चलता ही रहता था। मित्रता के उपलक्ष में वह एक-दूसरे को

उपहार भेजा करते थे जिसका स्वीकार करके राजा बहुत ही प्रसन्न होते थे ।[१]

तत्कालीन समय में भारत का सम्बन्ध अन्य देशों से पहले व्यापार द्वारा हुआ था । रामायण में सुवर्णद्वीप का उल्लेख सबसे पूर्व व्यापार के सिलसिले में ही आया है ।[२] जैन मान्यतानुसार वणिक लोग मूलधन की रक्षा करते हुए धनोपार्जन करते थे ।[3] कुछ लोग एक जगह दुकान लगाकर व्यापार करते, और कुछ बिना दूकान के घूम-फिरकर व्यापार करते थे ।[४] आन्तर्देशिक व्यापार होता था जिसके अन्तर्गत बहुत सी वस्तुओं का विनिमय होता था । उस समय में विदेशों से भी व्यापारिक सम्बन्ध होने के प्रमाण मिलते हैं । यह व्यापार नौका तथा जहाजों द्वारा होते थे । नदियों के द्वारा जो व्यापार होता था वह नौका की सहायता से होता था तथा समुद्र द्वारा जो व्यापार होता था वह जहाजों के द्वारा होता था । यथा—चम्पा नगरी में मांकदी नाम का एक सार्थवाह रहता था । उसके जिनपालित और जिनरक्षित नाम के दो पुत्र थे । उन्होंने बारहवीं बार लवण समुद्र की यात्रा की । लेकिन इस बार उनका जहाज फट गया और वे रत्नद्वीप में पहुँच गये ।[५] भरत चक्रवर्ती की दिग्विजय के अवसर पर उनका चर्मरत्न नाव के रुप में परिणत हो गया और उस पर सवार होकर उन्होंने सिंधुनदी को पार करते हुए, सिंहल, बर्बर, यवनद्वीप, अरब, एलैक्जेण्ड्रा आदि देशों की यात्रा की ।[६]

रामायण काल में भारत का भौगोलिक, व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध पश्चिमी एशिया, यूनान, रोम, मध्य-एशिया, चीन, पूर्वीद्वीपसमूह,

---

१. त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित्र भाग १०, पृ० १३३-१३५.

२. रामायण कालीन युद्धकला पृ० २६२.

३. निशीथचूर्णी ११.३५ ३२

४. निशीथभाष्य १६, ५७५०

५. ज्ञाताधर्मकथांग ६, पृ० ३२६-३३०.

६. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज पृ० १८३.

ब्रह्मा और लंका आदि देशों से रहा है।[1] इस तथ्य की पुष्टि मत्स्य पुराण भी करता है।[2]

उपर्युक्त बिवरणों से जैन तथा जैनैत्तर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की पुष्टि होती है ।

वर्तमान समय की भांति प्राचीन समय में भी भारत में एकछात्र साम्राज्य नहीं था। सम्पूर्ण भारत अनेक छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्यों में विभक्त था। अतः इन राज्यों में परस्पर युद्ध होना व मैत्री सम्बन्ध स्थापित होना स्वाभाविक ही था। युद्ध सदैव अन्तर्राज्य सम्बन्धों के परिणामस्वरूप होते हैं। ये राजनीति के साधन है।

आचार्य सोमदेव सूरि ने तीन प्रकार के विजेताओं का वर्णन किया है। (१) धर्म विजयी, (२) लोभ विजयी, (३) असुर विजयी।[3] उनके अनुसार धर्मविजयी शासक वह है जो किसी राजा पर विजय प्राप्त करके उसके अस्तित्त्व को नष्ट नहीं करता है। अपितु अपने आधिपत्य में उसकी स्वायत्त सत्ता स्थापित रहने देता है। और उस पर नियत किये हुए करों से वह सन्तुष्ट रहता है। लोभ विजयी शासक वह है जिसको धन और भूमि का लोभ होता है। उसको प्राप्त करने के उपरान्त वह उसको पराधीन नहीं बनाता अपितु उसे अपने आन्तरिक विषयों में पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करता है। तीसरा असुर विजयी शासक वह है जो केवल धन और पृथ्वी से ही सन्तुष्ट नहीं होता, अपितु वह विजित शासक का वध कर देता है और उसकी स्त्री, बच्चों का भी अपहरण कर लेता है। प्रथम दो प्रकार की विजयों में विजित राज की संस्थाएँ एवं शासन ज्यों का त्यों बना रहता है किन्तु तृतीय प्रकार की विजय में विजित का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। और विजयी शासक के राज्य के वे अंग बन जाते हैं।

---

१. रामायण कालीन युद्धकला पृ० २६२.

२. मत्स्य पुराण १२३-३५, ११७-३६-५५, १२०-७१.

३. नीतिवाक्यामृतम् ३०/७०-७१-७२ पृ० ३६२-३६३, कौटिल्य अर्थशास्त्र १२/१ पृ० ६३४.

भारतीय परम्परा के अनुसार अन्तिम प्रकार की विजय निकृष्ट समझी जाती थी और प्रथम प्रकार की सर्वोत्तम। भरत चक्रवर्ती ने दिग्विजय के समय इसी प्रकार की विजय की थी। राजाओं को पराजित कर उनके द्वारा पराधीनता स्वीकार कर लेने पर उन्हें स्वतंत्र छोड़ दिया जाता था। इसका अभिप्राय यह हुआ कि केन्द्रीय शक्ति शिथिल होने से अवसर पाकर वह राज्य स्वतंत्र हो जाते और स्वयं अपने राज्य का विस्तार करने लगते थे।

विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध किस प्रकार विनयमित होते थे, इस सम्बन्ध में भारतीय विचारकों ने विस्तृत रूप से उल्लेख किया है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का विषय दो भागों में विभक्त किया जा सकता है :–

(१) शान्तिकाल में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

(२) युद्ध काल में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध।

सर्वप्रथम हम शान्तिकाल में स्वतंत्र राज्यों के मध्य सम्बन्धों पर विचार करेंगे।

स्वतंत्र राज्यों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने में राजनय महत्त्वपूर्ण साधन था। परन्तु वर्तमान समय में हम राजनय का जो अर्थ समझते हैं वह प्राचीन काल में नहीं था। राज्यों में स्थायी रूप से राजदूतों की नियुक्ति करने की पद्धति आधुनिक है। आधुनिक काल में दूतों के विविध प्रकार होते हैं। दूसरे राज्य की सरकार को अपने राज्य का सिर्फ राजनैतिक व्यापारिक संदेश प्रस्तुत करना या मंत्रणा करना, नया करार या समझौता की भूमिका ऐसे व्यापक और विशाल कार्य वर्तमान दूत करते हैं। और एक राज्य दूसरे देशों में स्थायी दूतावास रखते हैं। जैन पुराण साहित्य के अनुसार प्राचीन समय में राजदूत स्थायी रूप से नियुक्त नहीं किये जाते थे। किसी कारणवश या कोई समाचार भेजने के लिए ही राजदूतों को दूसरे राज्यों में भेजा जाता था। "दूत" शब्द का संस्कृत में अर्थ सन्देश-वाहक है। इससे स्पष्ट होता है कि कोई विशेष कार्य सम्पादन के लिए ही राजदूतों को दूसरे राज्यो में भेजा जाता था। परन्तु उनके कार्य वह नहीं

होते थे जो आधुनिक काल के राजदूतों के होते हैं। भरत बाहुबलि युद्ध होने से पूर्व भरत ने बाहुबलि के पास दूत भेजा था। कौटिल्य अर्थशास्त्र के अधिकरण प्रथम के अध्याय सोलहवें में स्पष्ट है कि विभिन्न राज्यों के मध्य दूतों का नियमित रूप से आवागमन था। नीतिवाक्यामृत के दूत समुद्देश्य में हमें सभी प्रकार के दूतों का उल्लेख मिलता है। जिनका वर्णन अर्थशास्त्र में हुआ है।[1] तो भी दूतों की संकल्पना, भूमिका, शैली और व्यवहार में वर्तमान दूतों जैसी विविधता नहीं थी।

दूत :—

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में दूत की महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। जो अधिकारी दूरवर्ती राजकीय कार्य का साधक होने के कारण मंत्री के समान होता है, उसे दूत कहते हैं। आचार्य सोमदेव ने दूत की परिभाषा इस प्रकार की है कि "जो अधिकारी दूरवर्तीय राजकीय कार्यों—संधि, विग्रह आदि का साधक होता है उसे दूत कहते हैं।[2] जैन मान्यतानुसार जिस व्यक्ति के द्वारा (माध्यम से) राजा संदेश भेजता है, उसे दूत कहते हैं।

दूत के गुण :—

दूत की योग्यता के विषय में उल्लिखित है कि उसे संधि-विग्रह का ज्ञाता, शूरवीर, निर्लोभी, धर्म एवं अर्थ का ज्ञाता, प्राज्ञ प्रगल्भ, वाक्पटु, तितिक्षु, द्विज स्थविर तथा मनोहर आकृतिवाला होना चाहिए।[3]

आचार्य सोमदेव ने दूत के गुणों का उल्लेख किया है वह इस प्रकार है :—स्वामी भक्त, द्यूतक्रीड़ा, मद्यपान आदि व्यसनों से आसक्त, चतुर, पवित्र, निर्लोमी, विद्वान, उदार, बुद्धिमान, सहिष्णु, शत्रु का ज्ञाता तथा कुलीन होना चाहिए।[4] जो राजा इन गुणों से युक्त दूतों को अन्य राज्यों में नियुक्त करते थे उनके समस्त कार्य सिद्ध होते थे।

---

१. नीतिवाक्यामृतम्: दूतसमुद्देश पृ० १७०-१७१.

२ वही १३/१ पृ० १७०.

३. जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन पृ० २६०.

४. नीतिवाक्यामृतम् १३/२, पृ० १७०.

दूतों के भेद :—

महापुराण में दूत तीन प्रकार के बताये गये हैं। (१) नि.सृष्टाथ-दूत, (२) परिमिताय दूत एवं (३) शासनहारिण दूत।[1]

(१) निःसृष्टार्थ दूत :—

उस दूत को कहते हैं, जो दोनों पक्ष के अभिप्राय को ध्यान में रखकर स्वतः उत्तर-प्रत्युत्तर देता हुआ स्वकार्य सिद्ध करता है। इस प्रकार के दूत में अमात्य के सभी गुण विद्यमान रहते थे। इस कोटि के दूत की गणना उत्तम कोटि में होती थी।[2]

(२) परिमितार्थ दूत :—

राजा द्वारा निर्धारित सीमा के भीतर दूसरे राजा से वार्तालाप करने का इसे अधिकार था। इस दूत को राजा द्वारा भेजे हुए सन्देश को ही शत्रु राजा के सामने कहने का अधिकार था। यह मध्यम श्रेणी का दूत होता था। इसमें अमात्य का तीन चौथाई गुण होता था।

(३) शासन हारिण दूत :—

यह दूत अपने राजा के लेख को दूसरे राजा के पास ले जाने का अधिकार रखता था। इस के अधिकार इस कार्य तक ही सीमित थे। इसे निम्नकोटि का दूत माना जाता था। इसमें अमात्य के अर्धगुण ही विद्यमान रहते थे।

दूत के कार्य :—

व्यक्तिगत जीवन में दूत की आवश्यकता पड़ती थी। मुख्यतः इनका कार्य सन्देश पहुंचाना और लाना होता था।

महापुराण के अनुसार दूत राजा की पत्र-मंजूषा (पिटारा) ले

---

१. महा पु० ४३/२०२, कौ० अर्थ० १/१६, पु० ४५.
नीतिवाक्यामृतम् १३/३ पृ० १७०.

२. महा पु० ४४/१३६ टिप्पणी.

जाता थां ।[1] इसके अन्तर्गत ही मुहर तोड़कर पत्र पढ़ने का उल्लेख उपलब्ध है ।[2] राजा अपने विरोधी राज्य में दूत भेजते थे, तथा वहां पहुंचकर नीति-विषयक बात करना दूत का कर्तव्य था ।[3] पद्मपुराण में वर्णित है कि अन्य देश के राजा से उसकी वार्ता में अपने स्वामी के कथन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं कहता था ।[4]

आचार्य सोमदेव ने भी दूत के कार्यों पर प्रकाश डाला है । उनके अनुसार दूत के निम्नलिखित कार्य हैं :—

नैतिक उपाय द्वारा शत्रु के सैनिक संगठन को नष्ट करना । राजनीतिक उपायों द्वारा शत्रु को दुर्बल बनाना तथा शत्रु विरोधी पुरुषों को साम-दामादि उपायो द्वारा वश में करना । शत्रु के पुत्र, कुटुम्बी व कारागार में बन्दी मनुष्यों को द्रव्य-दान द्वारा भेद जानना । शत्रु द्वारा अपने देश में भेजे हुए गुप्त पुरुषों का ज्ञान प्राप्त करना । सीमाधिपति, आटविक, कोश, देश, सैन्य और मित्रों की परीक्षा करना । शत्रु राजा के यहां विद्यमान कन्या रत्न तथा हाथी, घोड़े आदि वाहनों को अपने स्वामी को प्राप्त कराना । शत्रु के मंत्री तथा सेनाध्यक्ष आदि में गुप्तचरों के प्रयोग द्वारा क्षोभ उत्पन्न करना । ये दूत के कार्य हैं ।[5]

उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त दूत का यह भीं कर्त्तव्य होता था कि वह शत्रु के मंत्री, पुरोहित और सेनापति के समीपवर्ती पुरुषों को धनादि देकर अपने पक्ष में करके उनसे शत्रु हृदय की गुप्त बात एवं उसके कोश,

१. महा पु० ६८/२५१.

२. महा पु० ६८/३६६.

३. वही ३५/६२, ६८/४०८, पद्म पु० १६/५५-५६.

४. पद्म पु० ८/१८८

हृदयस्थाने नाथने पिशाचेनैव चोदिताः ।
दूतावाचि प्रवर्तन्ते यन्त्रदेहि इवावशाः ॥

५. नीतिवाक्यामृतम् १३/८ पृ० ७०.

सैन्य के प्रमाण का निश्चय कर उसकी सूचना वह अपने स्वामी तक पहुंचा देता था।[१]

वर्तमान काल की भांति प्राचीन काल में भी दूतों का वध करना वर्जित था। पद्म पुराण में दूत को मारना नीति विरुद्ध वर्णित है। किंतु उसको अत्यन्त कष्ट देने के भी अनेक दृष्टान्त मिलते हैं।[२] राजदूत का वध करना, राजधर्म के विरुद्ध ही नहीं बल्कि लोकाचार में निन्द्य माना है।[३] राजदूत चाहे साधु हो अथवा असाधु, यह वास्तविक प्रश्न नही है, क्योंकि वह अन्य के द्वारा भेजा गया दूत है और वह उस दूसरे के हित में ही भाषण करता है, अतः राजदूत को कभी मृत्युदण्ड नहीं दिया जा सकता।[४]

भगवान श्री कृष्ण स्वयं युधिष्ठिर के दूत बनकर राजा धृतराष्ट्र के दरबार में हस्तिनापुर गये थे। वहां जाकर कौरवों और पाण्डवों दोनों के हित में विचार विमर्श किया गया। इस पर दुर्योधन ने कौरवों की सभा में यह प्रस्ताव रखा कि कृष्ण को बन्दी बना लिया जाये, जिससे पाण्डवों को शक्तिशाली समर्थक का बल प्राप्त न हो सके। दुर्योधन के इस प्रस्ताव से कौरवों के सभी सदस्यों को गहरा आघात पहुंचा। सबसे पहले उसके पिता धृतराष्ट्र ने ही इस प्रस्ताव की निन्दा की। 'हे दुर्योधन। तुम्हें राजा होकर इस प्रकार के शब्दों का उच्चारण नहीं करना चाहिए। तुम्हारा प्रस्ताव सनातन धर्म अथवा प्राचीन विधि के विरुद्ध है। श्री कृष्ण दूत बनकर हमारे पास आये हैं। उन्होंने हमारा कोई अपराध नहीं किया है, तो फिर तुम्हें उन्हें बन्दी बनाने का अधिकार कैसे प्राप्त होता है?[५]

जैन मान्यतानुसार जब भरत राजा का सुवेग नामक मंत्री बाहुबलि

---

१. पद्म पु० ३७/४७, ६/६८, ६६/५१-५६.

२. पद्म पु० ३७/४७, ६/६८, ६६/५१-५६.

३. रामायण : सुन्दरकाण्ड ५२/५.

४. साधर्वा यदि वा साधः पुरैरेष समर्पितः ।
ब्रुवन्परार्थं परवान्न दूतो वधमर्हति ॥ वही ५/५२/२१.

५. रामायण कालीन युद्धकला पृ० २८४.

के पास दूत बनकर आया था उस समय छड़ीदार का कदम दूत को मारने के लिए उठा था लेकिन कुछ सोचकर रुक गया और केवल दूत को हाथ पकड़ करके ही आसन से उठा दिया। इस व्यवहार से सुवेग के मन में बहुत ही क्षोभ हुआ, क्रोध आया मगर वह धैर्य रखकर सभा से बाहर निकल गया।[1] आचार्य सोमदेव लिखते हैं कि दूत द्वारा महान अपराध किये जाने पर भी उसका वध नहीं करना चाहिए। यदि चाण्डाल भी दूत बनकर आया हो तो भी राजा को अपना कार्य सिद्ध करने के लिए उसका वध नहीं करना चाहिए।[2] दूत समयानुसार सत्य, असत्य, प्रिय, अप्रिय सभी प्रकार के वचन बोलते थे। कोई भी बुद्धिशाली राजा दूत के कठोर वचनों से क्रोधित अथवा उत्तेजित नहीं होता था, अपितु उसका कर्त्तव्य है कि वह ईर्ष्या का त्याग करके उसके द्वारा कहे हुए प्रिय अथवा अप्रिय सभी प्रकार के वचनों को सुनें। जैन मान्यतानुसार यह बताया गया है कि दूत अपने स्वामी की निन्दा सुनकर शान्त नहीं रहते थे अपितु उसका यथायोग्य प्रतिकार करते थे।

सैनिक द्वारा शास्त्र संचालित किये जाने पर भी दूत को अपना कार्य सम्पादित करना चाहिए और शत्रु राजा को अपना सन्देश सुना देना चाहिए। राजा चेटक और कूणिक युद्ध से पूर्व कूणिक द्वारा दो बार दूत भेजा गया था लेकिन जब तीसरी बार दूत को भेजा गया उस समय दूत ने अपने बायें पैर से राजा के सिंहासन का अतिक्रमण कर भाले की नोंक पर पत्र रखकर चेटक को समर्पित किया। युद्ध के लिए यह खुला आह्वान होता था।[3] अतः राजा भयंकर युद्ध के समय भी दूत का वध नहीं करते थे। क्योंकि उनके द्वारा ही वह कार्य-सिद्धि (सन्धि-विग्रहादि) सम्पन्न कराते थे। जैन पुराणों के अनुसार स्त्री तथा पुरुष दोनों ही दूत का कार्य करते थे। महापुराण में इस प्रकार पुरुष दूत को कलह प्रेमी[4] और स्त्री दूती को धात्री[5] की संज्ञा दी गई दी है।

---

१. त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित्र भाग १ पृ० ३७३.

२. नीतिवाक्यामृतम् १३/२०२१ पृ० १७१.

३. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज पृ० ९८.

४. महा पु० ५८/१०२.

५. वही ६६/१६६.

चर (गुप्तचर) :

देश में आन्तरिक उपद्रवों और बाह्य आक्रमणों से राज्य् की रक्षा करने के लिए गुप्तचरों की नियुक्ति होती थी। ये गुप्तचर चोर डाकुओं तथा राज्य के अन्दर सभी प्रकार के रहस्यों का पता लगाकर उसकी सूचना राजा तक पहुंचाते थे। कौटिल्य ने गुप्तचरों को राजा की आंखें माना है। शत्रु सेना की मुख्य बातों का पता लगाने के लिए भी गुप्तचर काम में लिए जाते थे।[1] ये लोग शत्रुसेना में भर्ती होकर उनकी सब बातों का पता लगाते रहते थे। कूलवालय ऋषि की सहायता से राजा कूणिक वैशाली के स्तूप को नष्ट कराकर राजा के चेटक को पराजित करने में सफल हुआ था।[2] व्यवहार भाष्य में चार प्रकार के गुप्तचरों का उल्लेख है। (१) सूचकः—यह अन्तःपुर के रक्षकों के साथ मैत्री करके अन्तःपुर के रहस्यों का पता लगाते थे। (२) अनुसूचक :—नगर के परदेशी गुप्तचरों की तलाश में रहते थे (२) प्रतिसूचक :—नगर के द्वार पर बैठकर दर्जी आदि का छोटा-मोटा काम करते हूए दुश्मनों की तलाश में रहते थे। (४) सर्व-सूचकः अनुसूचक और प्रतिसूचक से सब समाचार प्राप्त कर अमात्य से निवेदन करते थे। यह गुप्तचर कभी पुरुषों और कभी महिलाओं के रूप में सामन्त राज्यों और सामन्त नगरों तथा अपने राज्य, अपने नगरों और राजा के अन्तःपुर में गुप्त रहस्यों का पता लगाने के लिए घूमते रहते थे।[3]

कौटिल्य के अनुसार गुप्तचर विविध प्रकार के होते थे। जैसै कापटिक (कपटवृत्ति छात्र), उदास्थित (उदासीन सन्यासी), गृहपति (गृहस्थ), वैदेहक (वणिक्), तापस (तपस्वी), सत्री (विविध शास्त्रों को पढ़ने वाले के रूप में विख्यात गुप्तचर), तीक्ष्ण (शरीर को कुछ न समझनेवाले साहसी पुरुष), रसद (विष देने वाले लोग), भिक्षुकी (सन्यासिनी) आदि।[4]

---

१. अर्थशास्त्र १/१६ पृ० ३३.

२ आ० चूर्णी २, पृ० १७४.

३. व्यवहारभाष्य १, पृ० १३० आदि।

४. कौ० अर्थ० पृ० २७.

आचार्य सोमदेव ने निम्न प्रकार के गुप्तचरों का वर्णन किया है। कापाटिक उदास्थित, गृहपति, वैदेह्वित, तापस, किरात, यमपट्टिक, अहि-तुण्डिक, गौण्डिक, शौचिक, वाटच्चर, विट, विदूषक, पीठमर्दक, भिषग्, ऐन्द्रजालिक, वैमित्तक, सूद, आरालिक, जवाहक, तीक्ष्ण, क्रूर, रसद, जद, मूक, बधिर, अन्ध ।[1] इस प्रकार राज्य में विभिन्न प्रकार के चारों का जाल-सा बिछा रहता था। इन गुप्तचरों में से कुछ ऐसे होते थे जो शत्रु राजा के निकट पहुंचने का प्रयास करते थे। वहां पर किसी प्रकार की नौकरी पर नियुक्त हो जाते थे जिससे कि शासन के आन्तरिक क्षेत्र में जो कुछ भी हो रहा है उसकी सूचना अपने राजा तक भेजते रहते थे।

सामन्त शासकों के साथ सम्बन्ध :—

जैन मान्यतानुसार प्राचीन काल में अनेक सामन्त राजा थे। दिग्विजय की नीति के कारण एक विजेता विजित राजा के राज्य को अपने राज्य में नहीं मिलाता था, अपितु उसकी अधीनता स्वीकार कर लेने पर उसे उसके राज्य में आन्तरिक स्वतंत्रता प्रदान कर देता था। इस प्रकार वह दिग्विजयी शासक के अन्तर्गत अपने प्रदेश पर शासन करता था। इस प्रकार उस समय में अनेक सामन्त राजा थे। इन सामन्त शासकों के अधीन भी अन्य सामन्त शासक होते थे। सार्वभौम शासक का अपने सामन्त शासकों के साथ सम्बन्ध उनकी शक्ति और स्थिति के अनुसार भिन्न होता था। भरत चक्रवर्ती जिसने कि दिग्विजय के लिए निकलकर सर्वप्रथम मागध तीर्थ पर अपना नामांकित बाण छोड़ा जिसे देखते ही मागधपति भरत राजा का सत्कार करने के लिए हार-मुकुट, कुण्डल, कड़ा, बाजूबंद, वस्त्र और आभूषण एवं नामांकित बाण तथा मागधतीर्थ का जल आदि भेंटे लेकर महाराजा भरत के पास आया। वहां आकर भरत की अधीनता स्वीकार करके प्रीतिदान के रूप में लाया हुआ सामान भेंट किया। भरत राजा ने उनका प्रीतिदान स्वीकार किया और उसे सत्कार सम्मान करके विदा किया। इसी प्रकार वरदान-तीर्थ, प्रवास तीर्थ, सिंहल, हिमवंतगिरि, आदि प्रदेशों पर विजय प्राप्त कर वहां के राजाओं को अपने अधीन बनाकर उपहार स्वरूप भेंट स्वीकार

---

१. नीति वाक्यामृतम् १४/८, पृ० १७२.

करके ऋषभकूट पर्वत के पूर्व तरफ के कटक पर अपना नाम अंकित किया कि "इस अवसर्पिणी काल के अन्तिम समय में मैं भरत नाम का चक्रवर्ती हुआ हूँ। अर्थात् मैं प्रथम राजा हूँ, समस्त भरत का अधिपति शासक हूँ मनुष्यों में श्रेष्ठ इन्द्र नरेन्द्र हूँ, मेरा कोई प्रतिशत्रु नहीं है, मैंने समस्त भारतवर्ष को जीत लिया है।[1] भरत चक्रवर्ती के नाम पर ही इस देश का नाम "भारत" पड़ा है।[2] इस प्रकार भरत चक्रवर्ती के अधीन जितने भी राजा हुये थे वह अपने आन्तरिक कार्यों में पूर्ण रूप से स्वतंत्र थे। इसी प्रकार अन्य चक्रवर्ती राजाओं का उल्लेख आता है। कहीं-कहीं पर यह उल्लेख भी मिलता है कि चक्रवती सम्राट के अधिकृत राजा चक्रवर्ती सम्राट को कर के रूप में धन देते थे तथा आवश्यकता पड़ने पर अपने धन और सेना से सहायता करने को तत्पर रहते थे। इस प्रकार अनेक शक्तिशाली सामन्त शासक एक दूसरे के मित्र बन जाते थे।[3]

जैनेत्तर ग्रन्थों में भी दिग्विजय का उल्लेख मिलता है। चक्रवर्ती सम्राट दशरथ ने समुद्र तक फैली हुई सारी पृथ्वी जीत ली थी। अर्थात् समस्त राजाओं को अपने अधीन कर लिया था। ये सामन्त राजा अपने आन्तरिक कार्यों में स्वतंत्र थे।[4]

जैन मान्यतानुसार चक्रवर्ती राजा के अधीनस्थ ३२,००० मुकुटबंध राजा होते थे।[5]

युद्ध-काल में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध :—

सभी भारतीय विचारक इस बात पर सहमत हैं कि अन्य उपाय विफल हो जाने पर ही किसी राजा से युद्ध प्रारम्भ करना चाहिए। अन्य उपाय हैं :—साम, दाम और भेद। यदि इन उपायों से कोई निर्णय नहीं निकलता हो तब दण्ड का प्रयोग करना चाहिए। जैन ग्रन्थों में भी इस

---

१. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र ४५-६३.
२. महा पु० पर्व १५/१५८-५९.
३. रामायण कालीन युद्धकला पृ० २६४.
४. वही पृ० २६५.
५. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति पृ० २८९.

बात को स्वीकार किया गया है। मनु ने कहा है कि प्रथम तीन उपायों द्वारा यदि शत्रु नहीं रोका जा सकता है तो फिर उसे "दण्ड" द्वारा ही परास्त करना चाहिए। सभी विचारकों ने महत्वाकांक्षी राजाओं को यथा-सम्भव युद्ध से दूर रहने और शान्तिमय उपायों से ही कार्य सिद्ध करने के प्रयास का उपदेश दिया है। आचार्य सोमदेव ने भी इसी बात की पुष्टि की है। उन्होंने कहा है कि जब विजिगीषु अर्थात् साम आदि उपायों के प्रयोग द्वारा शत्रु पर विजयश्री प्राप्त करने में असमर्थ हो जाये तभी उसे युद्ध करना चाहिए। जैन मान्यतानुसार भी प्राचीन समय में सभी उपाय निष्फल हो जाने पर ही युद्ध छेड़ा जाता था। जैसा कि भरत बाहुबलि युद्ध से स्पष्ट होता है कि भरत राजा सर्वप्रथम बाहुबलि के पास दूत द्वारा समाचार भेजते हैं कि वह मेरी अधीनता स्वीकार कर ले। दूत बाहुबलि के समक्ष पहुँच कर भरत राजा का संदेश कहता है यहां तक कि वह कितनी बार क्रोधित होकर भी बाहुबलि के सामने पेश होता है। लेकिन फिर भी बाहुबलि भरत के आदेश को मानने के लिए तैयार नहीं हुये। इसका परिणाम यह हुआ कि दोनों में युद्ध प्रारम्भ हुआ था। इस उदाहरण से पता चलता है कि सभी उपाय निष्फल होने पर ही युद्ध का आश्रय लेना पड़ता था। इसी प्रकार जैनेत्तर ग्रंथों में उल्लिखित है कि कौरवों और पाण्डवों में अन्त तक समझौते की चेष्टा और पाण्डवों को पाँच गांव लेकर ही संतुष्ट हो जाने की तत्परता से सिद्ध होता है कि प्राचीन भारत में बिना विचार के प्रायः युद्ध नहीं छेड़े जाते थे।

प्राचीन भारतीय आचार्य जानते थे कि युद्ध का एकदम त्याग कर देना सम्भव नहीं। अतः युद्ध की सम्भावना यथासम्भव कम करने के लिए उन्होंने विविध राज्यों के "मंडल" बनाकर उसमें शक्ति संतुलन कायम रखने की व्यवस्था की थी। स्मृति और नीति ग्रंथकारों की प्रख्यात "मंडल" नीति शक्ति संतुलन के सिद्धान्त पर ही आधारित थी। इन आचार्यों नें विभिन्न राज्यों में प्रायः जो सम्बन्ध रह सकते हैं उन्हें समझाते हुए दुर्बल राज्यों को अपने से अधिक शक्तिशाली पड़ौसी राज्यों से सावधान रहने की सलाह दी है और इनकी विस्तार-नीति से अपनी रक्षा के हेतु अन्य समान या न्यूनाधिक बल वाले राज्यों से मैत्री स्थापित करने का शत्रु साहस ही न कर सकें।

प्राचीन भारतीय राजनीतिक साहित्य में मण्डल सिद्धान्त पर अत्यन्त बल दिया गया है। लगभग सभी राजनीति-प्रधान ग्रंथों में इस विषय की विस्तृत व्याख्या की गयी है। मनु, कामन्दक, तथा कौटिल्य आदि विचारकों ने इस विषय को बहुत महत्त्वपूर्ण माना है।

मण्डल सिद्धान्त :—

राज्य की विचारधारा के अनुसार कोई भी दिया हुआ राज्य समूह एक काल्पनिक राज्यवृत्त अथवा राज्यमण्डल को निर्धारित करता था जिसके केन्द्र में विजेता राजा का राज्य होता था। अन्य राजाओं से उसके किस प्रकार के सम्बन्ध होते थे, यह उसकी शक्ति के आधार पर निश्चित किये जाते थे। "मण्डल सिद्धान्त" के अनुसार एक राज्य अपने पड़ोसी का शत्रु व उसके पडोसी का मित्र होता था। प्राचीन समय में अन्तर्राज्य सम्बन्धों का एक महत्त्वपूर्ण आधार "मण्डल सिद्धान्त" था। कौटिल्य ने एक प्रकार के "शक्ति-सन्तुलन" को प्राप्त करने के लिए ही मण्डल-सिद्धान्त को अर्थ-शास्त्र में प्रतिपादित किया है। वस्तुतः मण्डल सिद्धान्त का प्रेरणा-स्रोत शुक्राचार्य को माना जाता है। प्रो० अल्तेकर इस सम्बन्ध में लिखते हैं कि स्मृति और नीति-ग्रन्थकारों की प्रख्यात "मण्डल-नीति" शक्ति संतुलन पर ही आधारित थी। स्मृतिकारों का मत है कि जब राजा अपने राज्य को समृद्ध देखे और सेना बलवान हो, शत्रु की स्थिति कमज़ोर हो तो वह बेहिचक आक्रमण कर सकता है। इस प्रकार के बचाव हेतु मण्डल-सिद्धान्त को प्रतिपादित किया गया है। मण्डल-सिद्धान्त आवश्यक रूप में विजिगीषुविजय की इच्छा का सिद्धान्त है। यह एक प्रकार से विस्तारवाद का सिद्धान्त है। कामन्दक कहता है कि शासक की जीवन-शक्ति विजय की अभिलाषा में पाई जाती है। उसके अनुसार राजा को एक पद्धति का केन्द्र (नाभि) बनाना चाहिए। उसे मण्डल का स्वामी होना चाहिए।

जैन पुराण साहित्यिक ग्रंथो में मण्डल सिद्धान्त के विषय में कोई विस्तृत वर्णन नहीं मिलता है, किन्तु यह बताया गया है कि विजिगीषु राजा के अन्य राज्यों से किस प्रकार सम्बन्ध होने थे। तथा शत्रु राजा का आक्रमण होने पर वह किस प्रकार एक दूसरे राज्य की सहायता करते थे।

मण्डल सिद्धान्त के मूल तत्त्व :—

राज्य मण्डल के अन्तर्गत विजिगीषु अर्थात् विजयाकांक्षी के संदर्भ निम्नलिखित प्रकार के राज्यों की कल्पना की गई है :—[1]

१. विजिगीषु अर्थात् विजयाकांक्षी
२. अरि अर्थात् आसन्न विपक्षी
३. मित्र अर्थात् आक्रामक का पक्षधर,
४. अरि मित्र अर्थात् विपक्षी का मित्र
५. मित्र-मित्र अर्थात् आक्रामक के मित्र का मित्र
६. अरि-मित्र-मित्र अर्थात् विपक्षी के मित्र का मित्र,
७. पार्ष्णिग्राह अर्थात् पृष्ठदेशीय विपक्षी,
८. आक्रन्द अर्थात् पृष्ठदेशीय मित्र,
९. पार्ष्णिग्राहासार अर्थात् पृष्ठदेशीय विपक्षी का मित्र,
१०. आक्रन्दासार अर्थात् पृष्ठदेशीय मित्र का मित्र,
११. मध्यम अर्थात् विजिगीषु तथा अरि के बीच संधि या विग्रह कराने में समर्थ,
१२. उदासीन अर्थात् विजिगीषु, अरि तथा मध्यम तीनों से शक्तिशाली और उनके बीच सन्धि या विग्रह कराने में समर्थ ।

मनुस्मृति में कहा गया है[1] कि जो राजा अधिक उत्साह, गुण एवं प्रकृति से समर्थ तथा विजयाभिलाषी हो, वह राजा विजिगीषु है ।[2] कौटिल्य द्वारा वर्णित मण्डल सिद्धान्त के तत्त्व को मनु ने भी स्वीकार किया है, और कहा है कि राजमण्डल की चार (मध्यम, विजिगीषु, उदासीन और शत्रु) मूल प्रकृतियां हैं । इस प्रकार कुल मिलाकर राजमण्डल की १२ (कौटिल्य की भांति) प्रकृतियाँ हैं ।[3]

---

१. कौ० अर्थ० ६-२.
२. मनु ७/१५५.
३. मनु ७/१५६.

शाखा प्रकृतियाँ आठ हैं :—

(१) मित्र, (२) अरि मित्र, (३) मित्र-मित्र, (४) अरि मित्र मित्र में चारों शत्रु की भूमि से आगे की ओर तथा (५) पार्ष्णिग्राह (६) आक्रन्द (७) पार्ष्णिग्राहासार और (८) आक्रान्दासार ये चारों शत्रु की भूमि से पीछे की ओर। इस प्रकार से आठ शाखा प्रकृतियाँ तथा पूर्व कथित चार प्रकृतियाँ मिलकर राजमण्डल की १२ प्रकृतियाँ होती हैं।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा सोमदेवसूरि के नीतिवाक्यामृत में मण्डल के राजाआ की गणना में कुछ अन्तर है। परन्तु सिद्धान्त मूलतः एक ही है। सोमदेव सूरि ने मण्डल का निर्माण नौ तत्त्वों से बताया है :— (१) उदासीन, (२) मध्यस्थ, (३) विजीगीषु, (४) शत्रु (५) मित्र, (६) पार्ष्णिग्राह, (७) आक्रन्द, (८) आसार, (९) अन्तर्धि।

सोमदेव सूरि ने मण्डल के ९ राज्यों के नाम का ही उल्लेख किया है जो कि कौटिल्य के द्वारा वर्णित मण्डल के राज्यों से साम्य रखते हैं। किन्तु जिस प्रकार कौटिल्य ने अरि मित्र, मित्र-मित्र, एवं अरि-मित्र-मित्र को इस राज्य में सम्मिलित कर लिया है। उसी प्रकार सोमदेव द्वारा प्रतिपादित मण्डल के ९ राज्यों में इन तीन राज्यों को सम्मिलित कर देने पर उनके राज्य मण्डल में भी १२ राज्य हो जाते हैं। आचार्य सोमदेव ने इनका पृथक नामोल्लेख करना उचित नहीं समझा। इसी कारण उन्होंने राज्य मण्डल में प्रमुख ९ राज्यों का ही वर्णन किया है।

कुछ विद्वानो ने मण्डल के तत्त्वों के साथ राज्य की प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों का भी उल्लेख किया है। जिसके आधार पर मण्डल में १२, २६, ५४, ७२, १०८ प्रकृतियो का उल्लेख मिलता है। इस सम्बन्ध में कामन्दक का कथन सर्वथा उचित ही है कि मण्डल के तत्त्वों के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं, किंतु १२ राज्यो का मण्डल स्पष्ट एवं सर्वविदित है।[1] मण्डल का मुख्य उद्देश्य यही है कि विजीगीषु उन मित्र तथा शत्रु राज्यों के बीच जिन से कि वह परिवेष्ठित है, शक्ति सन्तुलन बनाये रखें। उसे अपनी नीति, तथा साधनों में इस प्रकार व्यवस्था करनी चाहिए जिससे कि उदासीन

---

१. कामन्दक ८, २०-४१

तथा शत्रु राजा उसको हानि न पहुंचा सके। और न उससे अधिक शक्तिशाली हो सके।[1]

परराष्ट्र नीति :—

विजिगीषु राजा के लिए केवल युद्ध ही एक मात्र हल नहीं था अपितु षाड्गुण्य नीति की सहायता से वह उसे हल करने की कोशिश करता था। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध को विनियमित करने वाला यह एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। "मण्डल सिद्धान्त" के अन्तर्गत विजिगीषु को अपने सामर्थ्य और शक्ति के अनुसार इन छह गुणों अथवा नीतियों का प्रयोग करना चाहिए। इनके प्रयोग से राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित होते हैं। इनका यथोचित पालन करके राजा सफलता के शिखिर पर आरूढ़ होता है। महापुराण के अनुसार सन्धि, विग्रह, आसन, यान, संचय और द्वैधीभाव के छह गुण हैं।[2] आचार्य सोमदेव ने भी इसी प्रकार के छह गुण बतलाये हैं।[3]

१. सन्धि :—

युद्धरत दो राजाओं में किसी कारण से मैत्रीभाव हो जाना सन्धि कहलाती है। जब शत्रु राजा का बल समान हो और उसके साथ सन्धि सम्बन्ध के अलावा अन्य कोई नीति का अनुगमन से उसे अपने राज्य की वृद्धि न होकर क्षय होने की शंका हो तो उससे सन्धि कर लेनी चाहिए। जैन मान्यतानुसार सन्धि दो प्रकार की होती हैं।

(१) सावधि सधि—निश्चित कालीन मित्रता को सावधि संधि कहते हैं।

(२) अवधि रहित संधि—यह वह संधि हैं जिसमें समय और सीमा का प्रतिबन्ध नहीं रहता है।[4]

---

१. कामन्दक १५, ३२

२. सन्धिः विग्रहो नेतुरासनं यानसंश्रयो।
द्वैधीभावश्च षट् प्रोक्ता गुणाः प्रणमिनः श्रियः॥ महा पु० ६८/६६-६७

३. नीतिवाक्यामृत में राजनीति पृ० १६३.

४. कृत विग्रहयोः पश्चात्केनचिद्धेतुना तयोः।
मैत्रीभावः स सन्धिः स्यात्सावधि विगतावधि॥ महा पु० ६८/६७-६८.

जैनेत्तर ग्रंथों रामायण में चार प्रकार की संधियों का उल्लेख मिलता है।[1]

(१) **चर संधि**:- संधि यदि इस उद्देश्य से की जाये जिससे राज्य को अपनी शक्ति बढ़ाने का समय मिल जाये और उसके पश्चात् संधि सम्बन्ध तोड़कर शत्रु पर आक्रमण कर सके, ऐसी संधि को "चर संधि" कहते हैं।

(२) **स्थावर संधि** :—जब संधि स्थाई रूप से दोनों देशों में मित्रता स्थापित करने के उद्देश्य से होती थी, तो वह स्थावर संधि कही जाती थी।

(३) **समसंधि** :—जब संधि करने वाले दोनों राज्य एक से ही लाभ के उद्देश्य से मैत्री करते हैं तो वह सम संधि कहलाती थी।

(४) **विषम संधि** :—जब भिन्न-भिन्न लाभ की शर्त पर संधि की जाती थी वह विषम संधि कहलाती थी।

कौटिल्य ने अपने अर्थ-शास्त्र में अमिष, पुरुषान्तर, आत्मरक्ष, अदृष्ट पुरुष, दण्डमुख्यात्मरक्षण, दण्डोपनत, परिक्रम, उपग्रह, प्रत्यय, सुवर्ण, कथाल आदि संधियों का उल्लेख किया है।[2]

२. विग्रह :—

जब विभिन्न राज्यों के बीच द्रोह, वैर, वैमनस्य की स्थिति होती है, तब वह विग्रह की स्थिति होती है। महापुराण में बताया है कि शत्रु तथा उसे जीतने वाला दूसरा विजयी राजा दोनों ही परस्पर एक दूसरे का जो उपकार करते हैं, उसे विग्रह कहा गया है।[3] कौटिल्य के अनुसार भी शत्रु

---

१. **रामायण कालीन युद्ध कला** पृ० २६७.

२. कौ० अर्थशास्त्र ७/३

३. परस्परापकारोऽरिविजिगीष्वोः स विग्रहः। महा पु० ६८/६८, पद्म पु० ३७/३.

के प्रति किये गये द्रोह तथा उपकार को विग्रह कहा जाता है।[1] उनके अनुसार इस गुण का प्रयोग तभी करना चाहिए जबकि विजिगीषु शक्तिशाली हो।[2] वास्तव में यह दो राजाओं के बीच शीत युद्ध की स्थिति है। जब राज्य शस्त्रोपजीवी क्षत्रियों की संख्या अधिक हो और कारीगरों व किसानों की भी अधिकता हो साथ ही शैल दुर्ग एवं नदी दुर्ग सुरक्षित हो और राज्य में शत्रु के आक्रमण रोकने की सामर्थ्य है तथा जब प्रचार बल से शत्रु राज्य के निवासियों को उनके राजा के विरुद्ध भड़काया जा सकता हो तो कौटिल्य ने लिखा है कि राजा को जब ऐसा आत्म विश्वास हो जाये तब ही वह विग्रह की नीति अपना सकता है।[3]

३. **आसन** :—

जब किसी राजा का अन्य किसी राज्य से शत्रुता का भाव न हो और न उस राज्य के राजा की चढ़ाई करने की इच्छा हो और न उसे किसी अन्य राजा को अपने राज्य पर आक्रमण कर देने का भय हो, तो ऐसे राज्य की स्थिति "आसन" कही जाती थी। यह एक प्रकार से तटस्थ नीति होती है। महापुराण में उल्लिखित है कि जब कोई राजा यह समझकर कि उस समय मुझे कोई दूसरा और मैं किसी अन्य को नष्ट करने में समर्थ नहीं हूं और जो राजा शान्तभाव से रहता है। इसे आसन कहते हैं। इस गुण को राजा की बुद्धि का कारण बताया गया है।[4]

यान :—

महापुराण में बताया गया है कि अपनी वृद्धि और शत्रु की हानि होने पर दोनों का शत्रु के प्रति जो उद्यम है अर्थात् शत्रु पर आक्रमण आदि करना ही यान कहलाता है। यह यान अपनी वृद्धि तथा शत्रु की हानि रूप फल देने वाला होता है।[5] आचार्य सोमदेव ने भी शत्रु पर आक्रमण

---

१. कौ० अर्थ० ७, १ (अपकारो विग्रह)

२. वही ७/३.

३. कौ० अर्थशास्त्र ७/१.

४. मामिहान्यो ह्यमव्यन्यमशक्तो हन्तुमित्यसौ।
तूषणींभावो भवेन्नेतुरासनवृद्धिकारणम्॥ महा पु० ६८/६९.

५. स्ववृद्धो शत्रुहानौ वाद्वयोवभ्यिद्यम् स्मृतम्। अरि प्रति विभोयनि तावन्मात्र फलप्रदम्॥ महा पु० ६८/७०.

किये जाने को यान बतलाया है। अथवा शत्रु को अपने से अधिक शक्तिशाली समझकर अन्यत्र प्रस्थान को भी यान कहते हैं।[1]

जब विजयाभिलाषी राजा ऐसा समझ लेता है कि शत्रु के कार्यों का विध्वंस उस पर आक्रमण करके ही सम्भव है और उसने स्वयं अपने राज्य की रक्षा का प्रबन्ध कर लिया है तो ऐसी परिस्थिति में उस राजा को यान गुण का आश्रय लेना होगा। सोमदेव ने यह बात स्पष्ट कर दी है कि विगीषु को शत्रु देश पर अभियान तभी करना चाहिए जबकि अपना देश पूर्णरूपेण सुरक्षित हो। यदि अपने देश में सुरक्षा एवं व्यवस्था का अभाव है तो उसे शत्रु राज्य पर कदापि आक्रमण नहीं करना चाहिए।

संश्रय :—

महापुराण में वर्णित है कि जिसको कहीं शरण नहीं मिलता है, उसे अपनी शरण में रखना संश्रय (आश्रय) कहलाता है।[2] दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि शक्तिशाली शत्रु राजा द्वारा आक्रमण किये जाने पर किसी दूसरे शक्तिशाली राजा के यहाँ आश्रय लेने को संश्रय कहते हैं। कौटिल्य के अनुसार किसी अन्य शक्तिशाली राजा के पास स्वयं को अपनी स्त्री तथा पुत्र एवं धन-धान्यादि के समर्पण कर देने को संश्रय कहते हैं।[3] शुक्र ने इसको आश्रय कहा है।[4] इसका अभिप्राय यह है कि जब राजा अपनी हीन दशा देखे और शत्रु राजा शक्तिशाली हो तथा पराजय की सम्भावना हो ऐसी परिस्थिति में राजा को अन्य शक्तिशाली राजा का आश्रय प्राप्त कर अपनी रक्षा करनी चाहिए। शुक्र के अनुसार शक्तिशाली राजा का ही आश्रय लेना चाहिए।

द्वैधी भाव :—

शत्रुओं में सन्धि और विग्रह करा देना ही द्वैधीभाव है।[5] सोमदेव के अनुसार बलिष्ट राजा के साथ सन्धि तथा दुर्बल के साथ युद्ध को द्वैधी-

---

१. **नीतिवाक्यामृत में राजनीति पृ० १६५.**

२. अनन्यशरणस्याहुः संश्रयं सत्यसंश्रयम्। महा पु० ६८/७१

३. कौ० अर्थ ७/१.

४. शुक्र० ४, १०६६.

५. सन्धिविग्रयोर्वृतिर्द्वैधीभावो द्विषां प्रति। महा पु० ६८/७१.

भाव कहते हैं ।[1] जब विजिगीषु को यह ज्ञात हो जाये कि आक्रान्ता शत्रु उसके साथ युद्ध करने को तत्पर है तो उसे द्वैधीभाव का आश्रय लेना चाहिए । सोमदेव ने बुद्धि-आश्रित द्वैधीभाव का भी उल्लेख किया है जो इस प्रकार है :—"जब विजिगीषु अपने से बलिष्ट शत्रु के साथ पहले मैत्री कर लेता है और फिर कुछ समय उपरान्त शत्रु का पराभव हो जाने पर उसी से युद्ध छेड़ देता है, तो उसे बुद्धि-आश्रित द्वैधीभाव कहते हैं ।[2] क्योंकि इससे विजिगीषु की विजय निश्चित होती है ।

कुछ ग्रन्थों में द्वैधीभाव का अर्थ भिन्न है । विष्णु पुराण में सेना को दो भागों में विभाजित करने को द्वैधीभाव कहा गया है ।[3] शुक्र के अनुसार अपनी सेना को पृथक-पृथक गुल्मों में विभाजित करना द्वैधीभाव है ।[4]

इस प्रकार साम, दामादि चार उपायों एवं संधि-विग्रहादि षाड्गुण्य राजशास्त्र के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त हैं । इनके समुचित प्रयोग से राज्य की स्थिति सुदृढ़ बनी रह सकती है । वैदेशिक सम्बन्धों को सुदृढ़ एवं अनुकूल बनाने के लिए राज्य की सुरक्षा के लिए इन नीतियों का प्रयोग बहुत ही आवश्यक समझा गया है ।

परराष्ट्र नीति को कार्यान्वित करने के उपाय

अन्तर्राज्य सम्बन्धों का एक आधार षड्गुण्य नीति थी और दूसरा राज्य के चार मान्य उपाय :—

राजा को सर्वप्रथम युद्ध का आश्रय नहीं लेना चाहिए जैसा कि पूर्व में भी कहा जा चुका है । उद्देश्य की प्राप्ति में युद्ध अन्तिम साधन बताया गया है । राजशास्त्र प्रणेताओं ने इस सम्बन्ध में अन्य तीन उपायों का वर्णन किया है, जिनका प्रयोग युद्ध से पूर्व करना चाहिए । महापुराण में

---

१. नीतिवाक्यामृत में राजनीति पृ० १६६.

२. वही

३. विष्णु पु० २, १५०, ३-५

४. शु० ४, १०७० द्वैधीभावः स्वसेन्यानं स्थापयं गुल्मगुल्मतः ।

चार मूल तत्त्वों की विवेचना की गयी है। शत्रु राजा को व प्रतिकूल व्यक्ति को वश में करने के लिए चार उपाय साम, दाम, भेद व दण्ड हैं।[1] आचार्य सोमदेव तथा अन्य जैनेत्तर साक्ष्यों में भी चार तत्त्वों (उपायों) का वर्णन है।[2]

सामनीति :—

किसी पक्ष को मित्र बनाकर या मिलाकर काम करना ही साम-नीति कहलाती है। दूसरे शब्दों में ऐसे भी कह सकते हैं कि अपनी नीति को कार्यान्वित करने के लिए जब अन्य राजाओं के साथ बातचीत करके तथा समझा बुझाकर उसे अपने अनुसार कार्य करने के लिए तैयार किया जाता है, तो वह तरीका साम-नीति कहलाता है।

दामनीति :—

जब बातचीत व अनुनय-विनय से काम न चल सके तब प्रलोभन का सहारा लिया जाता है। अर्थात् लोभी व्यक्ति को धनादि देकर वश में किया जाता हैं और फिर उससे कार्य कराया जाता है। इस नीति का प्रयोग ऐसी परिस्थिति में ही करना चाहिए, जब प्रथम नीति से काम न बने और यह निश्चय हो जाये कि युद्ध से दोनों राज्यों की हानि होगी तथा दूसरा राज्य अपने से अधिक शक्तिशाली है जिस पर आक्रमण करके दबाया नहीं जा सकता है। ऐसी परिस्थिति में शत्रु राज्य को थोड़ा धन आदि भेंट स्वरूप देकर अपने पक्ष में कर लेना हितकारक होता है।

भेदनीति :—

इस उपाय का प्रयोग शत्रु को कमजोर बनाने के लिए किया जाता हैं। 'फूट डालो और शासन करो' की नीति को 'भेद' कहते हैं। इस नीति के द्वारा शत्रु को आपस में लड़ाकर सफलता प्राप्त की जा सकती है। भेद के प्रयोग में उचित तथा अनुचित साधनों का समावेश होता है। आचार्य सोमदेव ने इसकी परिभाषा करते हुए लिखा है कि विजिगीषु अपने सेना-

---

१. महा पु० ८/२५३.

२. **नीतिवाक्यामृत में राजनीति** पृ० १६२ मनु० ७/१०६, याज्ञवल्क्य १/३४६, शुक्र ४/१/७७.

नायक, तीक्ष्ण व अन्य गुप्तचर तथा दोनों ओर से वेतन पाने वाले गुप्तंचरों द्वारा शत्रु की सेना में परस्पर एक दूसरे के प्रति सन्देह या तिरस्कार उत्पन्न कराके भेद डालने को भेदनीति कहते हैं।

दण्डनीति :—

यह नीति सबसे निकृष्ट मानी गयी है। अन्य उपायों के निष्फल हो जाने पर इसका प्रयोग किया जाता था। इसका प्रयोग करने से पूर्व अपने सामर्थ्य का पूर्णतः ज्ञान होना आवश्यक है। कौटिल्य ने दण्ड का प्रयोग शक्तिशाली राजा के विरुद्ध करने का परामर्श दिया है।[1] क्योंकि युद्ध की धमकी प्रतिष्ठा-हानि के प्रति सशंक शक्तिशाली राजा के प्रति कारगर उपाय सिद्ध हो सकती है। युद्ध की धमकी व्यर्थ होने की स्थिति में वास्तविक युद्ध ही एकमात्र विकल्प रह जाता है। वास्तव में साम, दाम, भेद यह तीनों नीतिताँ असफल हों जायें तब ही शत्रु को आक्रमण का तथा उसके राज्य को विध्वंश कर देने का भय दिखाना चाहिए।

इस प्रकार साम-दामदि चार उपाय एवं संधि-विग्रहादि षाड्गुण्य राजशास्त्र के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त हैं। इसके समुचित प्रयोग से राज्य की स्थिति सुदृढ़ बनी रह सकती है। जिस प्रकार प्रजा में संतोष के लिए एवं राज्य में सुख एवं समृद्धि के लिए सुशासन आवश्यक है उसी प्रकार वैदेशिक सम्बन्धों को अनुकूल बनाने के लिए, अपने राज्य की सुरक्षा के लिए न नीतियों का प्रयोग बहुत आवश्यक समझा गया है।

□ □ □

---

२. कौ० अर्थशास्त्र ७/१६

उपसंहार एवं निष्कर्ष

पुराण साहित्य भारतीय संस्कृति का अजस्र स्रोत है। पुराण साहित्य वैदिक और जैन वाङ्मय में समान रूप से उपलब्ध है। "इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्" की प्रेरणा से जहां वैदिक परम्परा में अष्टादश पुराणों तथा अनेक उप-पुराणों की रचना हुई, उसी प्रकार जैन परम्परा में भी चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ वासुदेव, नौ प्रति वासुदेव, और नौ बलदेव, इस प्रकार कुल मिलाकर तिरेसठ महापुरुषों के जीवनचरित्र को आधार बनाकर अनेक पुराण लिखे गये हैं। इन तिरेसठ महापुरुषों को "शलाका पुरुष" भी कहा गया है ।

मैंने इस शोध-प्रबन्ध में प्रमुख जैन पुराणों में निहित राजनीति का अवलोकन किया है।

प्रथम अध्याय : "भारत में प्राचीन राजनीति-शास्त्र की अध्ययन परम्परा"

इसके अन्तर्गत भारत में प्राचीन राजनीति शास्त्र की अध्ययन परम्परा की समीक्षा की गयी है। इसमें राज्यशास्त्र के स्वरूप पर तथा सर्वप्रथम राज्य की उत्पत्ति कहाँ, कैसे हुई, और उसके कितने प्रकार थे ? राज्य का ध्येय एवं कार्य क्या होने चाहिए ? आदि प्रश्नों के विषय में भारतीय राजनीतिज्ञों के क्या विचार थे, उसका संक्षिप्त विवेचन किया गया है।

द्वितीय अध्याय : "जैन पुराण साहित्य का परिचय"

इसके अन्तर्गत प्रथम बताया गया है कि "पुराण" किसे कहते हैं ? पुराण तथा महापुराण में क्या अन्तर है। इसके साथ यह भी बताया गया है कि हिन्दू–पुराण तथा जैन पुराणों में क्या अन्तर है। जैन पुराणों का रचनाकाल एवं भाषा आदि का दिग्दर्शन भी किया गया है। इसके अलावा

"भारतीय राजनीति : जैन पुराण साहित्य संदर्भ में" विषय का अध्ययन करने के लिए जिन मूल पुराणों को आधार बनाया है उनका संक्षिप्त परिचय भी इसमें निहित है।

तृतीय अध्याय : "जैन पुराण साहित्य में राजनीति"

इस अध्याय में मैंने जैन पुराण साहित्य में राजनीति" का संक्षिप्त में चित्र अंकित किया है। इसके अन्तर्गत प्रथम कालचक्र के बारह आरों (काल-विभागों) का निर्देश किया गया है। अवसर्पिणी, असर्पिणीकाल तथा इनका छः छः भागों में विभक्त होना और प्रत्येक आरे का प्रमाण भी बताया गया है। इसके अलावा राजकीय व्यवस्था से पूर्व जो कुलकर व्यवस्था थी उसका वर्णन तथा कुलकरों की संख्या के विषय में जो मतभेद बताये गये हैं उनका वर्णन किया गया है। कुलकरों के समय की प्रचलित दण्डनीति, इसके पश्चात् जैन पुराणों में राजा तथा राज्य की उत्पत्ति किस प्रकार हुई उसका संक्षिप्त वर्णन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय : "राज्य एवं राजा"

इस अध्याय को दो विभागों में विभक्त किया गया है। प्रथम विभाग में राज्य का स्वरूप एवं सिद्धान्त बताये गये हैं। द्वितीय विभाग में राजा के विषय में चर्चा की गयी है।

प्रथम विभाग में राज्य के स्वरूप एवं सिद्धान्त के अन्तर्गत राज्य की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, राज्य के प्रकार, राज्य के उद्देश्य एवं कार्य, राज्य के सप्तांग सिद्धान्त, राज्य के चतुष्ट्य सिद्धान्त, राज्य के षड्-सिद्धान्त, का वर्णन किया गया है। राज्य के दो कार्य बताये गये हैं— (१) आवश्यक कार्य (२) ऐच्छिक कार्य या लोकहितकारी कार्य। आवश्यक कार्यों के अन्तर्गत बाह्य आक्रमण से देश की रक्षा, प्रजा के जान-माल का संरक्षण, देश में शान्ति एवं सुव्यवस्था के लिए न्याय प्रबन्ध आदि कार्य सम्मिलित हैं। ऐच्छिक कार्यों में शिक्षा, दान, स्वास्थ्य-रक्षा, व्यवसाय, डाक, यातायात का प्रबन्ध, दीन-अनाथों की देखरेख आदि का वर्णन किया गया है। जैन पुराणों में हालांकि राज्य के कार्यों का विस्तृत वर्णन नहीं है तथापि उसके अध्ययन से उपर्युक्त विचारों की पुष्टि होती है।

चतुर्थ अध्याय के द्वितीय भाग में राजा का वर्णन किया गया है। इसमें प्रथम राजा का महत्त्व एवं चक्रवर्ती राजा के चौदह रत्न, नवनिधियों का वर्णन किया गया है। इसके पश्चात् राजा की उत्पत्ति के सिद्धान्तों का दिगदर्शन किया है। राजा को उत्पत्ति किस प्रकार हुई, इस सम्बन्ध में भारतीय विचारकों के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।

(१) वैदिक सिद्धान्त, (२) सामाजिक अनुबन्ध का सिद्धान्त
(३) दैवीय सिद्धान्त।

राजा की उत्पत्ति के पश्चात् राज्याभिषेक का वर्णन किया गया है। उसमें बताया गया है कि प्राचीन समय में किस प्रकार राजा का राज्याभिषेक किया जाता था। राज्याभिषेक के बाद युवराज तथा उसके उत्तराधिकारी का वर्णन किया गया है, जिसके अन्तर्गत सापेक्ष और निरपेक्ष दो प्रकार के राजाओं का उल्लेख आता है। सापेक्ष का अर्थ है— राजा अपने जीवनकाल में ही अपने ज्येष्ठ पुत्र को युवराज पद दे देता था। निरपेक्ष राजा के विषय में यह बताया गया है कि राजा की मृत्यु के बाद ही पुत्र को राजा बनाया जाता था। युवराज तथा उत्तराधिकारी का पद वंश परम्परागत होता था। इसके अलावा राजा के प्रधान पुरुषों का वर्णन किया गया है, जिसके अन्तर्गत राजा, युवराज, अमात्य और पुरोहित आते हैं। इसके साथ ही राजा की उपाधियाँ, राजा के प्रकार, राजा के गुण, प्रजा तथा राजा का सम्बन्ध, राजा के कार्य आदि के बारे में चर्चा की गई है।

पंचम अध्याय : "शासन व्यवस्था"

इस अध्याय को तीन भागों में विभक्त किया गया है। प्रथम भाग में मंत्रिपरिषद, द्वितीय भाग में कोष तथा तृतीय भाग में सेना या बल का वर्णन किया गया है।

प्रथम भाग मंत्रिपरिषद के अन्तर्गत मंत्रिपरिषद की रचना, मंत्रियों की नियुक्ति, मंत्रियों की योग्यता, मंत्रिपरिषद के सदस्यों की संख्या, मंत्रिपरिषद के कार्य आदि का वर्णन किया गया है।

द्वितीय भाग में राजकोष का वर्णन किया गया है जिसके अन्तर्गत राजकर व्यवस्था में कानूनी टैक्स, अठारह प्रकार के कर तथा राजकोष को समृद्ध बनाने के उपायों का भी वर्णन किया गया है।

तृतीय भाग को दो विभागों में विभक्त किया गया है। प्रथम सेना के अन्तर्गत चतुरंगिणी सेना के अंग, तथा द्वितीय विभाग में युद्ध का वर्णन किया है। चतुरंगिणी सेना के अंगों के अन्तर्गत (१) पदापि सेना, (२) अश्व सेना, (३) हस्तिसेना, और (४) रथसेना। अश्व सेना के अन्तर्गत अश्व सेना के अन्तर्गत अश्वों की किस्म तथा उनकी शिक्षा का भी वर्णन किया गया है। हस्ति सेना के अन्तर्गत हस्तियों की जाति तथा उत्तम प्रकार के हस्तियों की विशेषताओं तथा ऐरावत हाथी का वर्णन किया गया है। रथ-सेना के अन्तर्गत रथों के प्रकार बताये गये हैं। द्वितीय भाग में युद्ध एवं युद्ध के कारणों का बर्णन किया गया है। जिसमें जैन मान्यतानुसार बताया गया है कि उस अधिकाँश युद्ध स्त्रियों के कारण होते थे। मूल कारण स्त्रियों के सौन्दर्य से आकृष्ट हो उन्हें प्राप्त करने के लिये तथा स्वयंवरों के अवसर पर प्रायः युद्ध हुआ करते थे। इसके अलावा युद्धनीति का तथा अस्त्र-शस्त्रों का वर्णन किया गया है, जो कि उस समय युद्धों में प्रयोग किये जाते थे।

षष्ठ अध्याय : "न्याय-व्यवस्था"

इस अध्याय को दो भागों में बांटा गया है। प्रथम में न्याय-व्यवस्था तथा द्वितीय भाग में अपराध एवं दन्ड का वर्णन किया गया है।

प्रथम भाग में न्याय-व्यवस्था के अन्तर्गत न्याय का स्वरूप एवं प्रकार, न्यायाधीश एवं गवाहियों की शपथ का वर्णन किया गया है। द्वितीय भाग में अपराध एवं दण्ड के अन्तर्गत चोरों के प्रकार, चोरी के प्रकार, चोरों के आख्यान, मुकद्मे, तथा जेलखाने का वर्णन जिसके अन्तर्गत राजगृह के कैदखाने का वर्णन किया गया है। अपराध या फौजदारी व्यवस्था के कुछ ख्याल यहाँ मिलते हैं।

सप्तम अध्याय : "नगरादि व्यवस्था"

इस अध्याय को दो भागों में बांटा गया है। प्रथम भाग में नगर-

विन्यास—इसके अन्तर्गत दुर्ग, राजधानी, सड़क निर्माण आदि का वर्णन किया गया है। द्वितीय भाग में सुरक्षा-व्यवस्था के अन्तर्गत परिखा, कोट, प्राकार, अट्टालक, गोपुर, प्रतोली आदि का वर्णन किया है।

अष्टम अध्याय : "अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध"

इस अध्याय में शान्तिकाल में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध एवं युद्धकाल में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अन्तर्गत दूत, दूत के गुण, दूतों के भेद, दूतों के कार्य, गुप्तचर तथा सामन्त शासकों के साथ सम्बन्ध का वर्णन किया गया है। युद्ध काल में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अन्तर्गत मण्डल-सिद्धान्त का वर्णन किया है। जैन पुराणों में पूर्ण-रूपेण वर्णन नहीं किया गया है। इसके अलावा परराष्ट्र नीति के अन्तर्गत षड्गुण्य मंत्र और परराष्ट्रनीति क्रियान्वित करने के चार उपाय आदि का वर्णन किया गया है।

"भारतीय राजनीति : जैन पुराण साहित्य संदर्भ में" विषय का दिग्दर्शन करने के पश्चात् अब हम बतायेंगे कि जैन पुराण साहित्य में राजनीति का जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, उसमें और हिन्दू पुराणों तथा जैनेत्तर ग्रन्थों में क्या भेद है, इसके अलावा वह क्या नवीनता एवं विशेषता लिये हुए है।

जैन पुराण साहित्यिक ग्रन्थों में राजा तथा राज्य की उत्पत्ति के विषय में जो चर्चा की गई है, वह हिन्दू पुराणों से कुछ अंश में, भिन्नता रखती है। जैन पुराणों में राज्थ की उत्पत्ति सामाजिक समझौते के फलस्वरूप हुई है। इसके साथ यह भी बताया गया है कि "राज्य देवी अश न होकर मानवीय संस्था थी।" इसका निर्माण प्राकृतिक अवस्था में रहने बाले युगलिकों द्वारा आपसी समझौते के आधार पर हुआ है। (आदि काल में युगलिक व्यवस्था थी) जबकि हिन्दू पुराणों में बहुधा राज्य को "दैवी अंश" के रूप में स्वीकार किया गया है, मानवीय संस्था को इतना महत्त्व नहीं दिया है। इसके अलावा परोक्ष रूप से राज्य की उत्पत्ति के दूसरे आधार भी माने गये हैं, तो भी ईश्वर को प्रधानता प्रदान की है। महाभारत, मनुस्मृति, शुक्रनीतिसार आदि ग्रन्थों में राज्य की उत्पत्ति में ईश्वर को प्रधानता दी गई है।

जैन मान्यतानुसार राजा की उत्पत्ति सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्तानुसार हुई है। महाभारत आदि ग्रंथों में भी राजा की उत्पत्ति

सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त के अनुसार मानी गई है, लेकिन दोनों में अन्तर है। हिन्दू पुराणों में राजा की उत्पत्ति होने पर लोगों ने आपस में समझौता किया जिसके फलस्वरूप उन्होंने राजा को कर देना निश्चय किया, जिसके बदले में राजा ने प्रजा की रक्षा का भार अपने ऊपर लिया। अर्थात् कर ही राजा का वेतन होता था। जैन पुराणों में इस प्रकार राजा की सेवा के बदले कर की कोई व्यवस्था नहीं थी। राजा का राजकीय पद पर आरूढ़ होते ही यह कर्त्तव्य होता था कि वह प्रजा की रक्षा तथा देश में शान्ति एवं सुव्यवस्था बनाये रखे। जैसा कि ऋषभदेव स्वामी ने राजपद पर आरूढ़ होते ही प्रथम शासन-व्यवस्था की स्थापना की थी। इससे यह विदित होता है कि राजा बहुत योग्य एवं कर्त्तव्यनिष्ठ होते थे। जैन पुराणों में एक नवीनता यह भी दृष्टिगोचर होती है कि प्रायः राजा कुछ समय राज्य करने के पश्चात् अपने पुत्र का राज्याभिषेक कर स्वयं श्रमण दीक्षा ले लेते थे। इससे यह स्पष्ट होता है कि राजपद, वैभव, सत्ता, शक्ति आदि राजस् गुण पर निर्भर होते हुये भी राजा अन्त में सत्त्व गुण का अनुशासन कर तत्त्व ज्ञान को स्वीकार करते थे।

जैन साहित्य में प्राचीन समय में राज्याभिषेक की जो प्रणाली थी उसके अन्तर्गत यज्ञ, हवन आदि क्रियाकाण्डों को महत्त्व नहीं दिया गया है। इसके पीछे मूल कारण हिंसा थी। जैन राजा अहिंसक होते थे। कुमारपाल राजा के बारे में तो यहां तक कहा गया है कि वह अपने राज्य में घोड़ों को भी छानकर पानी पिलाता था, तथा चातुर्मास में एक स्थान पर ही रहता था, क्योंकि वह समझता था कि चातुर्मास में जीवों की उत्पत्ति अधिक होती है। इसलिए जीवों की रक्षा हेतु चार महीने एक स्थान पर रहकर शान्ति धर्माराधना करता हुआ व्यतीत करता था।

युवराज तथा उत्तराधिकारी का पद वंश परम्परागत होता था। यदि किसी राजा के राजपुत्र नहीं होता था और उस राजा की मृत्यु हो जाती तब शहर में पांच दिव्य पदार्थ सहित घोड़ा घुमाया जाता था। वह जिसके भी पास जाकर रूक जाता उसे ही राजा बनाया जाता था। इसके लिए हाथी भी पाँच दिव्य पदार्थ सहित शहर में घुमाया जाता था।

मंत्रिपरिषद की रचना के विषय में हिन्दू पुराण और जैन पुराणों में अन्तर बताया गया है। जैन पुराणों के अनुसार मंत्रियों की नियुक्ति

के विषय में कहा गया है कि मंत्री का पद वंश परम्परागत और चुनाव दोनों ही आधार पर होता था। हिन्दू पुराणों में सिर्फ वंशपरम्परागत बताया गया है। जैन पुराणों के अनुसार राजा मंत्रियों की नियुक्ति करने में स्वतंत्र होता था। राजा प्रधानमंत्री को नियुक्ति करने से पूर्व परीक्षा लेता था, जो व्यक्ति परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता, उसे ही प्रधान मंत्री बनाया जाता था। इसके अलावा अन्य मंत्री होते थे। जैन पुराणों में मंत्रियों की योग्यता के विषय में कहा गया है कि मंत्रियों का स्वदेशी होना आवश्यक नहीं है। अर्थात् दूसरे देश का व्यक्ति भी मंत्री पद पर आरूढ़ हो सकता है। मंत्रिपरिषद के सदस्यों की संख्या के विषय में बताया गया है कि सामान्यत: मंत्री-मण्डल के सदस्यों की संख्या निम्नतम चार एवं अधिकतम सात होती थी। मंत्री-मण्डल के अलावा भी मंत्री होते थे जिनकी संख्या निश्चित नहीं होती थी। मंत्री-मण्डल के कार्यों के अन्तर्गत बताया गया है कि मंत्री राजा की इच्छा एवं कार्यों की पूर्ति करने के लिए समयानुसार वेश-परिवर्तन, स्वरूप परिवर्तन कर लेते थे, जिससे कोई उन्हें पहचान नहीं सके। इसके अतिरिक्त राजा की अत्यन्त विकट परिस्थितियों में रक्षा भी करते थे। मंत्री राजकन्या के चयनार्थ परामर्श भी देते थे। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि राजा मंत्री को झूठ मूठ सभासदों के सामने अपमानित कर राज्य से निकाल देते थे। ऐसी परिस्थिति में वह मंत्री विपक्षी राजा से मिलकर उसका विश्वासपात्र बनकर उसे पराजित करके ही वापिस लौटता था। जैन पुराणों में यह भी बताया गया है कि भविष्य में हितकारक कार्य के लिए दु:ख देना उत्तम है।

जैन मान्यतानुसार प्राचीन समय में लोग युद्धों से बहुत ही भयभीत रहते थे। पहले यथासम्भव साम, दाम, दण्ड और भेद नीति अपनायी न जाती थी। यदि इनके द्वारा सफलता प्राप्त नही होती, तभी युद्ध लड़े जाते थे। भरत-बाहुबलि युद्ध इसका साक्षात् उदाहरण है। इस युद्ध से पूर्व दोनों भाइयों में दूतों द्वारा वार्तालाप हुआ लेकिन जब कुछ नतीजा नहीं निकला तब दोनों ने युद्ध करने का निर्णय लिया। निरपराध प्राणियों के वध से बचने के लिए तथा उन्हें अभयदान देने के लिए दोनों ने आपस में ही युद्ध करने का निश्चय किया था। इन दोनों में दृष्टि-युद्ध, बाहु-युद्ध, जल-युद्ध और मुष्ठि-युद्ध हुआ था। कहाँ

भरत-बाहुबलि युद्ध दोनों में कितना अन्तर है। इस अन्तर का मूल कारण अहिंसा की विचारणा ही है। जैन धर्म अहिंसा प्रधान धर्म है। उसमें बताया गया है कि जहां तक हिंसा से बचा जा सके बचना चाहिए, जब कोई उपाय नजर नहीं आये, तभी हिंसक प्रवृत्तियों का सहारा लेना चाहिए। भरत, बाहुबलि का युद्ध यह आदर्श शासन और राजनैतिक व्यवहार का आदर्श था। जिससे यह विदित होता है कि हिंसा के स्थान पर अहिंसा भाव से भी युद्ध किया जा सकता है। राजनीतिक सिद्धान्त व्यवहार में वास्तविक परिस्थितियों के दबाव में इतना मूर्त नहीं होता है, यह अलग बात है। जैन पुराणों में हिंसक युद्धों का भी वर्णन आता है। लेकिन युद्ध करने के पश्चात् राजा उसका प्रायश्चित कर लेते थे, जिससे कि उन्हें हिंसा का इतना दोष नहीं लगता था जितना कि प्रायश्चित नहीं करने पर लगता है। जब अहिंसा की भावना व्यक्ति के हृदय में घर कर जाती है, वहां मैत्री-भाव स्वतः ही उत्पन्न हो जाता है। प्रत्येक जीव के प्रति मैत्री-भाव रखना एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक, प्रत्येक जीव में अपनी ही जैसी आत्मा के दर्शन करना, प्रत्येक जीव अपने ही समान जीना चाहता है, मरने की इच्छा कोई नहीं करता, इसलिए जैन पुराण साहित्य में अहिंसा पर अधिक बल दिया गया है।

जैन पुराणों में अहिंसा पर बल दिया गया है लेकिन इसका यह मतलब नहीं बताया कि शासन चलाने में दण्ड-शक्ति का सर्वथा उपयोग नहीं करना चाहिए। व्यापक और दीर्घकालीन दृष्टि से दण्ड और हिंसा का उपयोग जरूरी भी हो जाता है। मगर उस संदर्भ में संयम और विवेक से हिंसा या बल का उपयोग होता था, ऐसा अभिप्रेत था।

अन्त में हम यही कहेंगे कि जैनपुराणों के अनुशीलन से तत्कालीन राजनीति का पता चलता है। रचना काल ज्ञात होने से ये प्रामाणिक माने जाते हैं, और उस समय की प्राप्त सामग्रियों के आधार पर भारतीय राजनीति का चित्र उपस्थित होता है।

—★—

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

मूल ग्रन्थ

अग्नि पुराण

अनु० एस० एन० दत्त
कलकत्ता : १९०३

अथर्ववेद, भाग ४

पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
पारड़ी : स्वाध्याय मण्डल
१९५८ तृतीयावृत्ति

अर्हन्नीति

हेमचन्द्राचार्य
बम्बई : श्री जैन ज्ञान प्रकाशक मंडल
१९०६

आचारांग (आयारांग)

—निर्युक्ति : भद्रबाहु
—चूर्णी : जिनदासगणि, महत्तर
रतलाभ, १९४१
टीका : शीलांक
सूरत, १९३५

आवश्यकचूर्णि सूत्रं (पूर्व भाग)

श्री जिनदासगणि महत्तर
रतलाम : श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था
१९२८ प्रथमावृत्ति

आवश्यक निर्युक्ति दीपिका (पूर्व भाग)

श्री भद्रबाहु स्वामी
संशो. मानविजयजी
सूरत : जैन ग्रन्थमाला गोपीपुरा १९३९

उत्तरपुराण

श्री गुणभद्राचार्य
अनु० सम्पा० हीरालाल जैन
काशी : भारतीय ज्ञानपीठ
१९४४, प्रथमावृत्ति

उत्तराध्ययन (उत्तरज्ज्यण)

—निर्युक्ति : भद्रबाहु
—चूर्णि : जिनदासगणि महत्तर
रतलाम : १९३३
टीका : शान्तिसूरि ; बम्बई १९१६

उत्तराध्ययन (उत्तरज्ज्यण)

टीका : नेमिचन्द्र
बम्बई १९३७.

ऋग्वेद

सम्पा० विश्वबन्धुना
विश्वेश्वरानन्द : वैदिक शोध संस्थान
१९६४ प्रथमावृत्ति

ऐतरेय ब्राह्मणम् (भाग १, २)

श्री मत्स्याणाचार्य
संशो० काशीनाथ शास्त्री
पूना : आनन्दाश्रममुद्रणालये
१९३०, द्वितीयावृत्ति

औपपातिकसूत्र

अभयदेवसूरि

संशो० : द्रोणाचार्य

सूरत : माणेकलाल नहालचन्द आदि ट्रस्टीओ, जैनानन्द प्रिन्टीग प्रेस, दसिया महेल, १९३८.

कल्पसूत्र

टीका : समयसुन्दरगणि

बम्बई १९३९

कामन्दकीय नीतिसार

संशो० गणपतिशास्त्री

त्रिवेन्द्रम : महामहीम श्री मूलक रामर्णकुलशेखर महाराज शासने १९१२

कुमारपाल चरित्र संग्रह

सम्पा० आचार्य जिन विजयमुनि

बम्बई : भारतीय विद्याभवन

१९५६ प्रथमावृत्ति

कुमारपाल प्रतिबोध

अनु० श्री सोमप्रभाचार्य

भावनगर : श्री जैन आत्मानंद सभा

१९२७

कुमारपाल भूपाल चरित्र महाकाव्यम्

जयसिंह सूरि

अनु० अजित सागर सूरि

बम्बई : गोड़ी जी उपाश्रय

१९२६

कुवलयमाला

उद्धोतनसूरि
अनु० श्री हेमसागर सूरि
बम्बई : श्री आनंदहेम ग्रन्थमाला
१९६५ प्रथमावृत्ति

कौटिलीयं अर्थशास्त्रम्

टीका० पं० रामतेज शास्त्री
काशी : पंडित पुस्तकालय
१९६०

कौटिलीय अर्तशास्त्र

डा० शामशास्त्री
मैसूर : गवर्मेन्ट ब्रान्च प्रेस
१९२४

गोपथ ब्राह्मण

राजेन्द्र लाल मिश्र, एच० विद्याभूषण
कलकत्ता १९७२

चउप्पन्न महापुरिस चरिय

शीलाचार्य
अनु० सम्पा० हेमसागर सूरि
सूरत : शेठ देवचंद लालभाई जैन पुस्तक फंड
१९६९ प्रथमावृत्ति

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति

टीका : शान्तिचन्द्र
बम्बई १९२०

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति

राय धनपतसिंह
वृत्ति : शान्तिचन्द्र
भाषा : ऋषभचन्द्रभयाणी
कलकत्ता १६४६

ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र

सम्पा० शोभाचन्द्र भारिल्ल
अहमदनगर : जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड पाथर्डी
१६६४ प्रथमावृत्ति

ज्ञातृधर्मकथा (नावाधम्मकहा)

टीका : अभवदेव
बम्बई : अगमोदय १६१६
सम्पा० एन० वी वैद्य
पूना १६४०

तिलोय पण्णत्ती भाग ।

श्री यतिवृषभाचार्य
शोलापुर : जैन संस्कृति संरक्षक संघ
१६५६ द्वितीयावृत्ति

तित्थोगाली पइण्णय

अनु० सम्पा० पन्यास कल्याण विजय
जालोर : श्वेताम्बर (चार थुई) जैन संघ
१६७५ प्रथमावृत्ति

त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र (पूर्व १, २)

हेमचन्द्राचार्य
अनु० : श्री कृष्णलाल वर्मा
बम्बई : श्री गोड़ी जी जैन मन्दिर, श्री ज्ञान समिति

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित

हेमचन्द्राचार्य
सम्पा० संशो० मुनिचरण विजय
भावनगर : श्री जैन आत्मानंद सभा
१९३९ प्रथमावृत्ति

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र (भाषान्तर) भाग १०
हेमचन्द्राचार्य
भावनगर : श्री जैन धर्म प्रसारक सभा
१९२६ तृतीयावृत्ति

दशवैकालिक (दसवेयालिया)
निर्युक्ति भद्रबाहु
चूर्णि जिनदासगणि महत्तर
रतलाम १९३३

दीघनिकाय
सम्पा० महाबोधि
अनु० भिक्षु राहुल, भिक्षु जगदीश काश्यप
बनारस : महाबोधि सभा
१९३६

नन्दीसूत्रम्
सम्पा० पं० मुनि श्री फूलचन्द्र श्रमण
लुधियाना : आचार्य श्री आत्मानंद जैन प्रकाशन समिति
१९६६ प्रथमावृत्ति

निशीथ सूत्र
भाष्य तथा चूर्णि : जिनदासगणि महत्तर
सम्पा० उपाध्याय अमरमुनि तथा मुनि कन्हैयालालजी
आगरा : सन्मति ज्ञानपीठ
१९५७-१९६० प्रथमावृत्ति

नीतिवाक्यामृतम्

सोमदेवसूरि

संशो० पन्नालाल सोनी

बम्बई : माणिकचन्द्र-जैन ग्रन्थमाला

१९२३

पउम चरिउ पद्मचरित (भाग १, २)

अनु० देवेन्द्र कुमार जैन

काशी : भारतीय ज्ञानपीठ

१९५७-५८ प्रथमावृत्ति

पउमचारियम्

विमलसूरि

सम्पा० पुण्यविजयजी

अनु० शान्तिलाल

वाराणसी : प्राकृत ग्रन्थ परिषद

१९६८ प्रथमावृत्ति

पउम चरिउ भाग १, २, ३

स्वयंभूदेव विरचित

सम्पा० डा० हरिवल्लभ चूनीलाल मयाणी

बम्बई : सिन्धी जैन शास्त्र शिक्षापीठ

भारतीय विद्याभवन

१९५३ प्रथमावृत्ति

पद्म पुराण (भाग १,२,३)

रविषेणाचार्य

काशी : भारतीय ज्ञानपीठ

१९४४, तृतीयावृत्ति, प्रथमावृत्ति, द्वितीयावृत्ति

पाण्डव पुराण्

शुभचन्द्र
सम्पा० ए० एन० उपाध्ये एवं हीरालाल जैन
सोलापुर : जीवराज गौतमचन्द्र दोशी

ब्राह्मण पुराण

बम्बई : वेंकटेश्वर प्रेस
१९१३

बृहत्कल्प (कप्प)

भाष्य : संघदासगणि
टीका० मलयगिरि और क्षेमकीर्ति : पुण्य विजय
भावनगर : आत्मानंद जैन सभा
१९३३-३८

बौधायन धर्मसूत्र

महर्षि बौधायन
टीका० गोविन्द स्वामी
सम्पा० चिन्नस्वामी
बनारस : चौखम्बा संस्कृत सीरिज
१९३४

(श्रीमद्) भागवत भाग १,२

वेदव्यास
गोरखपुर : गीता प्रेस
१९५३

भगवती सूत्र

पं० घेवरचंदजी बाँठिया
सैलाना : अखिल भारतीय साधुमार्गी
जैन संस्कृति रक्षक संघ
१९६६ प्रथमावृत्ति

मत्स्य पुराण
महर्षि कृष्णद्वैपायन
कलकत्ता : गुरुमण्डल ग्रन्थमाला
१९५४ प्रथमावृत्ति

मनुस्मृति
टीका० पं श्री हरगोविन्द शास्त्री
वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत सीरिज् आफ़िस
१९६५ द्वितीयावृत्ति

महापुराण (आदिपुराण) भाग १,२
भगवज्जिनसेनाचार्य
सम्पा० पन्नालाल जैन
काशी : भारतीय ज्ञानपीठ
१९४४ प्रथमावृत्ति

महापुराण (भाग १, २)
महाकवि पुष्पदन्त
सम्पा० डा० पी० एल० वैद्य
अनु० डा० देवेन्द्र कुमार जैन
वाराणसी : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
१९४४ प्रथमावृत्ति

महाभारत शान्तिपर्व (मूल)
सम्पा० पं० रामचन्द्र शास्त्री
पूना : शंकर नरहरि जोशी चित्रशाला प्रेस
१९३२ प्रथमावृत्ति

महाभारत शान्तिपर्व
कृष्णद्वैपायन वेदव्यास
भाषान्तर कर्ता : शास्त्री गिरिजाशंकर मयाशंकर
अहमदाबाद : भिक्षु अखण्डानंद
१९६६ छट्ठी आवृत्ति

मनसोल्लास (भाग १-३)
बड़ौदा १९३६

मार्कण्डेय पुराण (खण्ड १,२)
सम्पा० श्री राम शर्मा
बरेली : संस्कृत संस्थान
१९६७ प्रथमावृत्ति

यशस्तिलक चम्पू महाकाव्य
सोमदेवसूरि
वाराणसी : महावीर जैन ग्रन्थमाला
१९६८

यशस्तिकलम् (भाग १-२)
सोमदेवसूरि विरचित
सम्पा० पं० शिवदत्त और वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर
गम्बई : निर्णय सागर प्रेस
१९१६, १९०३. द्वितीयावृत्ति

याज्ञवल्क्यस्मृति
संशो० सुन्दरमल
बम्बई : श्री वेङ्कटेश्वर
१९००

रामायण वाल्मीकि
सम्पा० एन० राम रत्नार्येण
मद्रास : आर० नारायणस्वाम्यार्थ
१९५८ द्वितीयावृत्ति

वसुदेव हिण्डी
प्रो० भोगीलाल, जयचंदभाई साडेसरा
भावनगर : श्री जैन आत्मानंद सभा
१९४७ प्रथमावृत्ति

विपाकसूत्रम्

टीका० अनु० घासीलालजी महाराज
राजकोट : अ० भा० श्वे० स्था० जैन शास्त्रोद्धार समिति
१६५६ द्वितीयावृत्ति

विष्णु पुराण

अनु० गुप्त मुनिलाल
गोरखपुर : गीता प्रेस
१६६८ छट्ठी आवृत्ति

व्यवहार भाष्य

टीका० मलयगिरि
भावनगर : आत्मानंद जैनसभा
१६२६

शुक्रनीतिसार

भाषान्तरकर्त्ता : इच्छाराम, सूर्यराम देसाई
बम्बई : गुजराती प्रिंटिंग प्रेस
१६६७

समराइच्चकहा भाग १, २

हरिभद्रसूरि कृत
अनु० पं० भगवानदास
अहमदाबाद : जैन सोसायटी
१६३८, १६४२.

समरादित्य महाकथा

हरिभद्रसूरि
अनु० सम्पा० हेमसागरसूरि
बम्बई आनंद हेम ग्रन्थमाला
१६६६ प्रथमावृत्ति

सुत्तागम

सम्पा० पुप्फभिक्खु
गुड़गाँव-छावनी (पूर्व पंजाब) : श्री सूत्रागम प्रकाशक समिति
१९५४ प्रथमावृत्ति

हरिवंश पुराण

आचार्य जिनसेन
सम्पा० अनु० पं० पन्नालाल जैन
वाराणसी : भारतीय ज्ञानपीठ
१९४४, प्रथमावृत्ति

अनुषंगिक ग्रन्थ सूचि

अल्तेकर, प्रो० अनंत सदाशिव

प्राचीन भारतीय शासन पद्धति
प्रधान : भारतीय भंडार १९६०
द्वितीयावृत्ति

उपाध्याय, आचार्य बल्देव

पुराण विमर्श
वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन
१९६५ प्रथमावृत्ति

उपाध्याय, श्रीभगवत शरण

कालिदास का भारत (भाग, १, २)
काशी : भारतीय ज्ञानपीठ
१९५८ द्वितीयावृत्ति

कोछड़, हरिवंश

अपभ्रंश साहित्य
दिल्ली : भारतीय साहित्य मन्दिर
१९५७

घोषाल, यू० एन०
हिन्दुओं के राजनैतिक सिद्धान्त
जबलपुर : स्टूडेन्ट्स स्टोर्स
१६५०

चौधरी, गुलाबचन्द्र
सम्पा० दलसुखभाई मालवणिया एवं डा० मोहनलाल मेहता
जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग ६)
वाराणसी : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
१६७३

जयस्वाल, काशी प्रसाद
अनु० रामचन्द्र वर्मा
हिन्दू राजतंत्र (प्रथम खण्ड)
प्रयाग : इंडियन प्रेस लिमिटेड
१६८४ प्रथमावृत्ति

जयस्वाल, प्रो० के० पी०
अनु० चम्पकलाल, लालभाई मेहता
हिन्दू राजव्यवस्था
अहमदाबाद : गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी
१६३३ प्रथमावृत्ति
जैन ग्रन्थावली
बम्बई : श्री जैन श्वेताम्बर कान्फरन्स
१६०६

जैन, गोकुल चन्द्र
यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन
अमृतसागर
१६६७

जैन, डा० जगदीशचन्द्र
जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज
वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन
१६६५ प्रथमावृत्ति

जैन, डा० जगदीश चन्द्र
प्राकृत साहित्य का इतिहास
वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन
१९६१ प्रथमावृत्ति

जैन, जगदीशचन्द्र एवं डा० मोहनलाल मेहता
सम्पा० दलसुखभाई मालवणिया एवं डा० मोहन लाल मेहता
जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग २)
वाराणसी : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
१९६६

जैन, पी० सी०
हरिवंश पुराण का सांस्कृतिक अध्ययन
जयपुर : देवनागर प्रकाशन
१९८३ प्रथमावृत्ति

जैन, डा० लाल चंद
जैन कवियों के ब्रजभाषा प्रबन्ध काव्यों का अध्ययन
भरतपुर : भारतीय पुस्तक मंदिदर
१९७६ प्रथमावृत्ति

ढांकी, मधुसूदन
भारतीय दुर्गविधान
बम्बई : सोमैया पब्लिकेशन्स
१९७१

त्रिपाठी, श्री कृष्ण मणि
पुराण तत्त्व मीमांसा
लखनऊ : हिन्दी प्रकाशक मण्डल
१९६१

त्रिपाठी, हरिहर नाथ
प्राचीन भारत में अपराध और दण्ड
वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन
१९६४ प्रथमावृत्ति

त्रिपाठी, हरिहरनाथ
प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका
दिल्ली : मोतीलाल, बनारसीदास
१९६५ प्रथमावृत्ति

दामनन्दी
सम्पा० जैन गुलाब चन्द्र
पुराण सार संग्रह (भाग १)
काशी : भारतीय ज्ञानपीठ
१९५४ प्रथमावृत्ति

(श्री) देवेन्द्र मुनि
धर्मकथानुयोग एक समीक्षात्मक अध्ययन

दोशी, बेचरदास
सम्पा० दलसुखभाई मालवणिया एवं डा० मोहनलाल मेहता
जैन धर्म का बृहद इतिहास (भाग १)
वाराणसी : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
१९६६

द्विवेदी, पं० हजारी प्रसाद
प्रबन्ध चिन्तामणि
अहमदाबाद, कलकत्ता : संचालक सिंधी जैन ग्रन्थमाला
१९४०

श्री नथमल मुनि
जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व
कलकत्ता : मोतीलाल बेंगानी चेरिटेबल ट्रस्ट
प्रथमावृत्ति

श्री नवीन ऋषिजी महाराज
जैन दृष्टि में मध्यलोक
बम्बई : मनसुख भाई, उगनभाई देसाई
प्रथमावृत्ति

पाण्डेय, डा० राजनारायण
महाकवि पुष्पदन्त
जयपुर : चिन्मय प्रकाशन
१९७८

भट्टाचार्य, सुखमय
अनु० पुष्पा जैन
महाभारत कालीन समाज
इलाहाबाद : लोक भारतीय प्रकाशन
१९६६ प्रथमावृत्ति

मिश्र, देवी प्रसाद
जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन (शोध प्रबन्ध)
इलाहाबाद : संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, विश्वविद्यालय
१९७९

मेहता, डा० मोहनलाल
सम्पा० दलसुखभाई मालवणिया एवं डा० मोहनलाल मेहता
जैन साहित्य का बृहद इतिहास (भाग ३)
वाराणसी : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान १९६७

मेहता डा० मोहनलाल
सम्पा० दलसुखभाई मालवणिया एवं डा० मोहनलाल मेहता
जैन साहित्य का बृहद इतिहास (भाग-४)
वाराणसी : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
१९६८.

यादव, डा० झिनकू
समराइच्चकहा : एक सांस्कृतिक अध्ययन
वाराणसी : भारती प्रकाशन
१९७७

वर्णी, जिनेन्द्र
जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश (भाग १-४)
वाराणसी : भारतीय ज्ञानपीठ
१९७०-१९७३ प्रथमावृत्ति

विजय राजेन्द्र सूरीश्वर
अभिधान राजेन्द्र
मुद्रक : रतलाम : श्री जैन प्रभाकर यन्त्रालये
१९३४

विश्वबन्धुना
वैदिक पदानुक्रम कोष
विश्वेश्वरानंद : वैदिक शोध संस्थान
१९६२

वैश्य, रुक्मिणी
कुशाभलाभ के साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन
जयपुर : पंचशील प्रकाशन
१९७९ प्रथमावृत्ति

व्यास, शांति कुमार नानूराम
रामायण कालीन समाज
नई दिल्ली : सत्साहित्य मण्डल
१९५८ प्रथमावृत्ति

शर्मा, डा० एम० एल०
नीतिवाक्यामृत में राजनीति
दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ
१९७१ प्रथमावृत्ति

शर्मा, डा० विश्वनाथ प्रसाद
राजनीति और दर्शन
पटना : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद सम्मेलन भवन
१९५६

शास्त्री नेमिचन्द्र
आदि पुराण में प्रतिपादित भारत
वाराणसी
१९६८

शुक्ल द्विजेन्द्रनाथ
(१) भारतीय स्थापत्य, लखनऊ १९६८
(२) भवन निवेश
समराङ्गणसूत्रधार वास्तुशास्त्रीय
दिल्ली १९६४

शेठ हरगोविन्ददास एवं अग्रवाल वासुदेवशरण
पाइअसद्द महण्णवों
वाराणसी : प्राकृत ग्रन्थ परिषद
१९६३ द्वितीयावृत्ति

सम्पा० बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
जैन लक्षणावली (भाग १,२)
(जैन पारिभाषिक शब्द कोष)
दिल्ली : वीर सेवा मंदिर
१९७२-१९७३

सिंह, डा० लल्लनजी
रामायण कालीन युद्धकला
आगरा : अभिनव प्रकाशन
१९८२-१९८३ प्रथमावृत्ति

(आचार्यश्री) हस्तिमल जी महाराज
जैनधर्म का मौलिक इतिहास (भाग १)
जयपुर : जैन इतिहास समिति
१९७१ प्रथमावृत्ति

Baina J.S.
Studies in Political Science
Asia : Publishing House

Ghoshal U.N.
A History of Indian Political Ideas
Oxford University Press.
1959

Handiky Ke. Ke
Yasastilaka and Indian Culture
Solapur 1968

Mishra Dr. B.B. Mishra

Polity in the Agni Purana
Calcutta, Punthi Pustak.
1965 First Ed.

Saletore

Ancient Indian Political thought and Institution
Asia : Publishing House

Sen Madhu

A Cultural Study of the Nisitha Curhi
Amritsar : Sohanlal Jain
Dharma Pracharak Samiti
1975.

पत्रिकाएँ

अमर भारती
आगरा : सन्मति ज्ञानपीठ

जिन संदेश
मथुरा

तीर्थंकर
इंदौर

तुलसी पूजा
लाड़नू

श्रमण
वाराणसी

श्रीमती दुर्गा देवी नाहटा

श्रीमती दुर्गा देवी नाहटा का जन्म राजस्थान के बीकानेर जिले में स्थित झज्झू ग्राम में सुसम्पन्न सेठिया परिवार में हुआ था। आपके पिता श्री हीरालाल जी सेठिया एवं माता श्रीमती बसंती देवी सेठिया ने इनमें धार्मिक संस्कार कूट कूट कर भरे। १३-१४ वर्ष की आयु में आपका विवाह एक लब्ध-प्रतिष्ठित परिवार में बीकानेर निवासी दानवीर सेठ श्री शंकरादानजी नाहटा के सुपुत्र सेठ भैरूंदान जी नाहटा के साथ हुआ। आप एक धर्म परायण, सरल स्वभाव, करूणासिक्त स्वभाव की महिला रत्न थीं। आपको पंच प्रतिक्रमण, विभिन्न स्तोत्र आदि मुखस्थ थे। वर्षीतप, बीस स्थानक तथा अठ्ठाई आदि विभिन्न तपस्यायें आपने अपने जीवन काल में की। आपके २ पुत्र तथा ६ पुत्रियां थी। अपने भरे-पूरे परिवार को छोड़कर करीब ६३ वर्ष की आयु में वैशाख सदी ७, संवत् २०१६ को आपने महाप्रयाण किया।

श्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमन्दिर
श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र
कोबा (गांधीनगर) पि. ३८२००

साध्वी डा० मधु स्मिताश्री